संवर्द्धिनी

वर्ष - 2016-17 विक्रम सम्वत् - 2073 अङ्क - 8

धर्म-विशेषाङ्क

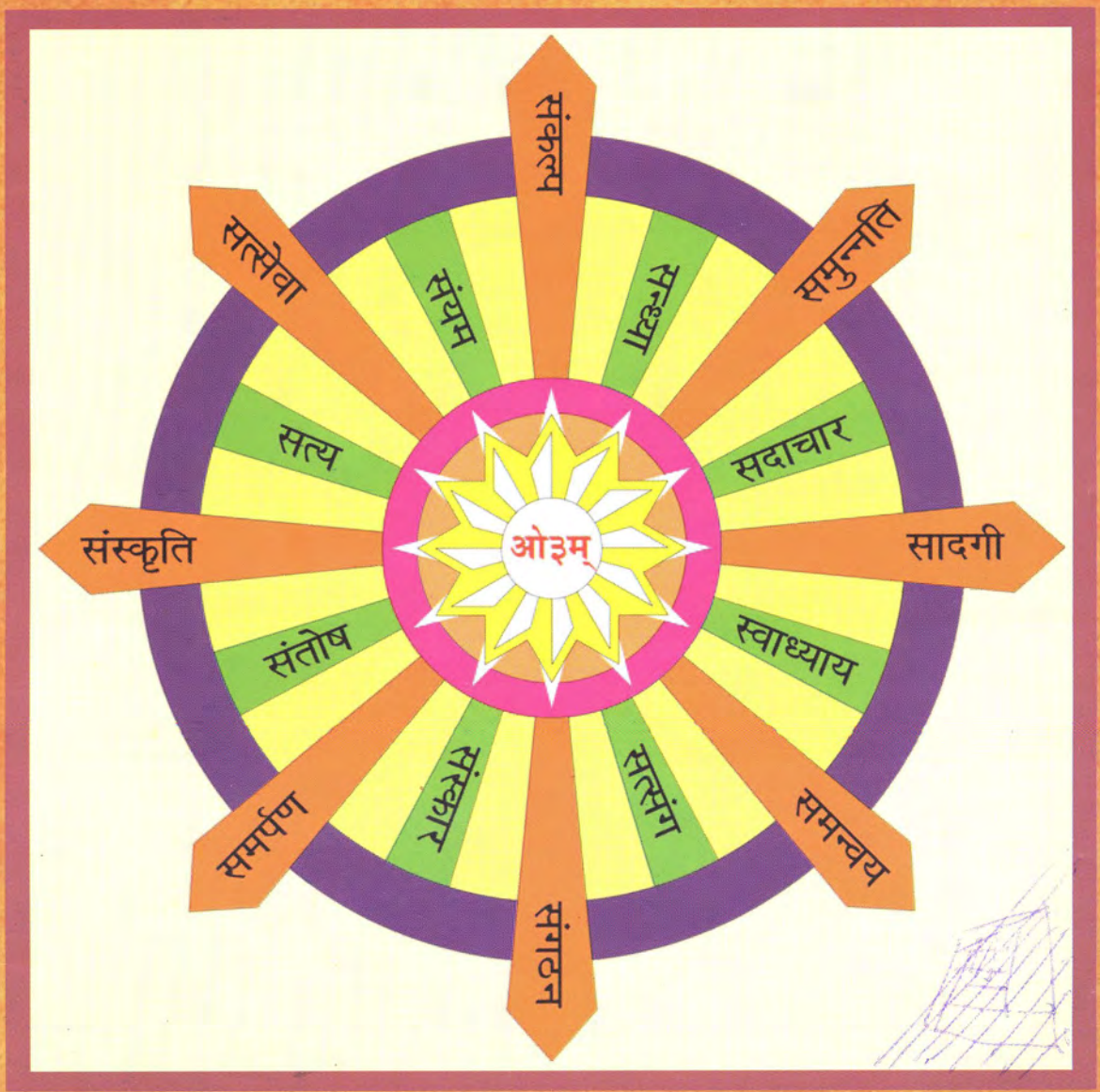

सहयोगी-होता बनें

'धर्म संवर्द्धिनी सभा' (पंजीकृत) दिल्ली राज्य' विगत कई वर्षों से सामाजिक सेवा में संलग्न है। इस सभा के माध्यम से साप्ताहिक नैतिक व धार्मिक कक्षाओं का द्वारका एवं उत्तम नगर क्षेत्र में समायोजन किया जाता है। समय-समय पर बाल चरित्र निर्माण योजना के अन्तर्गत 'संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर' 'संस्कृत-संभाषण शिविर' एवं 'योग शिविरों' का भी दिल्ली के विभिन्न-विभिन्न स्थानों पर समायोजन किया जाता है। इसके अतिरिक्त ग़रीब बालक एवं बालिकाओं के लिये आर्थिक सहायता तथा अनाथ-असहाय बच्चों के लिये गुरुकुलीय-शिक्षा का प्रबन्ध भी सभा की ओर से किया जाता है। शीत ऋतु में ग़रीब बच्चों को स्वेटर-इनर, मोजे तथा कम्बल आदि वितरित कर उनकी सहायता की जाती है।

यह सब कार्य आप सबके सहयोग से ही सम्भव है। अतः आप इस ज्ञान-यज्ञ एवं धर्म-यज्ञ में जो भी आहुति प्रदान करना चाहें, वह 'धर्म संवर्द्धिनी सभा' के नाम से चैक/ड्राफ्ट कार्यालय के पते पर भेज सकते हैं। यदि आप नक़द राशि देना चाहें, तो आप फोन नं0 09350733444 वा 09350233885 पर सूचित करें, आपसे सेवा प्राप्त कर आपको रसीद प्रदान कर दी जायेगी। इसके अतिरिक्त 500 रु0 वार्षिक देकर भी सभा के सहयोगी-होता बन सकते हैं।

आशा है कि आप अपनी पुण्य-कमाई में से 'धर्म संवर्द्धिनी सभा' का सहयोग कर, जहां सभा के कार्यों को प्रगति प्रदान करेंगे, वहां आप स्वयं भी धर्म-यज्ञ में आहुति देकर पुण्य-लाभ अवश्य प्राप्त करेंगे।

- निवेदक -

परमजीत कौर	वीरेन्द्र शर्मा	तारा शर्मा
(मन्त्रिणी)	(कोषाध्यक्ष)	(प्रधाना)

-: कार्यालय पता :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, द्वारका, नई दिल्ली-59

Email - samvardhini@yahoo.co.in / samvardhini@gmail. com

महर्षि दयानन्द कृत साहित्य के लिये अवश्य देखें -

Website - www. dharmsamvardhini.com

ओ३म्

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ॥

हम कल्याण मार्ग के पथिक बनें।

संवर्द्धिनी

* धर्म विशेषाङ्क *

वर्ष - 2016 **विक्रम सम्वत् - 2073** **अङ्क - 8**

सम्पादक :-

आचार्य श्याम

दूरभाष - 09811064932, 09350233885

सह-सम्पादक :-

डा0 कर्णदेव शास्त्री

दूरभाष - 09810322989

संरक्षक :-

सतीश मेहता, सुनील कोहली, कृष्णा झॉब

सरला-नीलम सूद, शकुन्तला आर्या,

कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

जी-150, नारायण विहार, नई दिल्ली-28

दूरभाष - 0935073344, 09350233885

प्रधान कार्यालय :-

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए 1/148 बी, मधु विहार, नई दिल्ली-59

E-mail - samvardhini@yahoo.co.in

dharm.samvardhini@gmail.com

Website - www.dharmsamvardhini.com

कहाँ क्या पढ़ें ? .....

1. प्रभु-वन्दना ..... पृष्ठ-2
2. सम्पादकीय ..... पृष्ठ-3
3. वेदामृतम् ..... पृष्ठ-5
4. जीवन में धर्म का महत्त्व ..... पृष्ठ-21
5. जाग उठा यह देश महान् (काव्यधारा) ..... पृष्ठ-23
6. "धैर्य" एक वैज्ञानिक विवेचन ..... पृष्ठ-24
7. पांच गोपनीय बातें ..... पृष्ठ-26
8. सदाचार ही धर्म है ..... पृष्ठ-27
9. धर्म नियन्त्रित राजनीति ही श्रेयस्कर है ..... पृष्ठ-30
10. हे मनुष्य ! तू मन का इकतारा बजा ..... पृष्ठ-34
11. अन्तर्दृष्टि ..... पृष्ठ-36
12. धर्म का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान ..... पृष्ठ-37
13. ना भुलाना चाहिये (काव्यधारा) ..... पृष्ठ-38
14. तनाव मुक्ति के कुछ उपाय ..... पृष्ठ-39
15. इस्लाम और वैदिकधर्म ..... पृष्ठ-41
16. समय की मांग (काव्यधारा) ..... पृष्ठ-46
17. धर्म का प्रमुख लक्षण "अक्रोध" ..... पृष्ठ-47
18. स्त्री-धर्म = सेवा और नम्रता ..... पृष्ठ-51
19. धर्म का प्रमुख सोपान "शौच" ..... पृष्ठ-52
20. धर्मो रक्षति रक्षितः ..... पृष्ठ-57
21. राज-धर्म की महत्ता ..... पृष्ठ-61
22. धर्म के महत्त्व को समझना आवश्यक ..... पृष्ठ-64
23. जीवन का कम्बल ..... पृष्ठ-65
24. विश्व का एकमात्र धर्म 'वैदिकधर्म' ..... पृष्ठ-66
25. शैक्षिक प्रोन्नयन और महर्षि दयानन्द ..... पृष्ठ-70
26. शास्त्रों की दृष्टि में धर्म-सर्वस्व ..... पृष्ठ-72
27. दशकं धर्म लक्षणम् ..... पृष्ठ-75
28. कभी यह भी सोचकर देखो ..... पृष्ठ-78
29. श्रावणी पर्व = स्वाध्यान्मा प्रमदः ..... पृष्ठ-79
30. धर्म का मूल अष्टाङ्ग-योग का 'यम' ..... पृष्ठ-81
31. धर्म की विशेषताएं ..... पृष्ठ-86
32. अष्टाङ्ग-पथ ही धर्म का आधार ..... पृष्ठ-89

ओ३म्

प्रभु-वन्दना

ओ३म् अग्ने॑ नय॑ सु॒पथा॑ रा॒ये अ॒स्मान् विश्वा॑नि देव व॒युना॑नि वि॒द्वान्। यु॒यो॒ध्य॒स्मज्जु॑हु॒रा॒णमे॑नो॒ भूयि॑ष्ठां ते॒ नम॑ऽउक्तिं विधेम॥

(ऋग्वेद 1/189/1)

[अगस्त्य ऋषिः। अग्निर्देवता। निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः]

हम बार-बार प्रभु द्वार तुम्हारे
आकर तुम से विनय करें॥

ऐसी निर्मल बुद्धि हमें दो, अविचल श्रद्धा भक्ति हमें दो।
जिससे इन उलझी राहों में, कभी भटक कर नहिं उलझें।
हम बार-बार प्रभु द्वार तुम्हारे.... ॥ 1 ॥

आप हमारे अन्तर्यामी, हो सर्वज्ञ जगत् के स्वामी।
पथदर्शक है ज्योति आपकी, छल-बल से हम दूर रहें।
हम बार-बार प्रभु द्वार तुम्हारे.... ॥ 2 ॥

हमें ज्ञान-धन दो हे स्वामी !, रहें आपके प्रभु अनुगामी।
करें सदा कल्याण जगत् का, प्रभु-चरणों में सदा रहें।
हम बार-बार प्रभु द्वार तुम्हारे.... ॥ 3 ॥

सम्पादकीय

वर्तमान समय में मनुष्य समाज जिस तेजी से पतन की ओर चला जा रहा है, उसे देखकर किसी भी सुधीजन का हृदय कांप उठता है, उसके मस्तिष्क में ज्वार-भाटे के समान विचारों की तरङ्गें उठने लगती हैं, और वह सोचने को मजबूर होता है कि इस भारतीय मनुष्य समाज का क्या होगा ? जिस भारत वसुन्धरा की संस्कृति को ऋषि-मुनियों ने अपने सम्पूर्ण जीवन के तपोबल से सिञ्चित किया, वह संस्कृति आज ऐसे कगार पर खड़ी है कि प्रत्येक सुधी विचारक मनुष्य को उसका भविष्य अन्धकारमय दिखाई देता है।

आज सम्पूर्ण देश में भ्रष्टाचार, असत्य, आतंकवाद, अन्धविश्वास, अधर्म, अविवेक का बोलवाला है। धर्म के स्थान पर अर्थ (धन) को आज प्रतिष्ठित किया जा रहा है। जिस वाममार्ग वा चारवाक के सिद्धान्तों की महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने भर्त्सना की, और जिसे मनुष्य जीवन के लिये पतन का साधन तथा अभिशाप कहा, वह वाममार्ग नये प्रारूप में पाश्चात्य-संस्कृति के नाम से अपनी जड़ें जमाता चला जा रहा है। यह बात भारत जैसे पवित्र संस्कृति वाले देश के लिये किञ्चित् भी अच्छी नहीं है। यदि भारतीय मनुष्य समाज का अपनी संस्कृति के प्रति ऐसा ही उदासीनता का व्यवहार रहा, तो हो सकता है कि भविष्य में भारतीय वैदिक संस्कृति सिर्फ इतिहास के पृष्ठों तक ही सीमित हो जाये। पर क्या इस पतन के पाप के हम भागीदार नहीं होंगे ? इस प्रश्न का उत्तर जब भी आप ढूंढ़ेंगे, तब आपको पता लगेगा कि हम भी पाप के भागीदार उतने ही हैं, जितना कि इस संस्कृति को मिटाने वाले पाप के भागीदार हैं। यदि हम चाहते हैं कि पाप के भागीदार हम न बनें, तो फिर हमें इसके कल्याण के लिये कुछ सोचकर कुछ न कुछ तो अवश्य ही करना पड़ेगा। ऐसे अनेकों मनुष्य आपको मिल जायेंगे, जो देश-संस्कृति की पतित अवस्था पर खून के आंसू पीते रहते हैं, उनकी वेदना अथाह है, दिन-रात उन्हें अपने देश व समाज की चिन्ता बनी रहती है, पर वे सोचते हैं कि श्रीराम, श्रीकृष्ण, महर्षि दयानन्द जैसा कोई महापुरुष परमात्मा की कृपा से उत्पन्न हो जाये, तभी इसका कल्याण सम्भव है। पर किसी महापुरुष के प्रकट होने की आशा-अभिलाषा में हम कर्त्तव्य-विहीन हो, मौन होकर दुर्दिनों को देखना एक मजबूरी समझ लेते हैं। पर नहीं, यह मजबूरी शब्द आलसी व निकम्मे लोगों के शब्दकोष में हो सकता है, पर जो पुरुषार्थी मनुष्य हैं, वह मजबूरी की दीवारों को गिराकर अपने पुरुषार्थ व तप-सत्य-संयम से नये भवन का निर्माण करते हैं, जिसके नीचे बैठकर शान्ति की सांस ली जा सके। यदि एक गिलहरी नदी के विपरीत प्रवाह को रोकने के लिये बार-बार अपने पुरुषार्थ से मिट्टी डालती है, तो वह इस भाव से कि कम से कम मैं अपने कर्त्तव्य का

पालन तो करूं, परिणाम मुझे मिले या ना मिले। परिणाम पर अधिकार मेरा नहीं है, अधिकार कर्म पर मेरा अवश्य है।

जब इस भावना से आप समाज को सुधारने का संकल्प लेकर कार्यक्षेत्र में उतरेंगे, तो निश्चित ही आपके इस कार्य से नदी का प्रवाह पूर्ण रूप से रुके या न रुके, पर इतना अवश्य है कि वह उस नदी के प्रवाह में अवरोध अवश्य बन जायेगा। यदि अवरोध न भी बन सका, तो आपका पुरुषार्थ उस पाप रुपी गड्ढे की गहराई को अवश्य कम करेगा।

इसलिये मैं आह्वान करता हूं, ऐसे भाई-बहिन व बच्चों का, जिनके हृदय में भारतीय संस्कृति को बचाने की लालसा विद्यमान है, वे हमारे साथ जुड़ें, हमें पूर्ण सहयोग और सलाह दें, जिससे कि भौतिकता के दानव से हम अपने देश व समाज की रक्षा कर सकें। हमारा यह प्रयास विगत कई वर्षों से चल रहा है, आपका तन-मन-धन से सहयोग जितना प्राप्त हो रहा है, भविष्य में उससे भी अधिक अपेक्षा से प्राप्त होगा। हम चाहते हैं कि हम उन गलियों व द्वारों तक पहुंचें, जहां कोई धनिक मनुष्य जाने की कल्पना भी नहीं करता। अच्छी कॉलोनियों में जाकर, साफ-सुथरे सभ्य लोगों के बीच जाकर अपने धर्म-संस्कृति के ज्ञान का प्रसार करना बुरा नहीं, पर उससे भी अच्छा कार्य तब होगा, जब हम शोषित-गरीब व अनाथ लोगों की बस्तियों में जाकर कुछ सुधार का कार्य करने का प्रयत्न करेंगे। पर इसके लिये अपने अहम् के भाव को पूर्णरूप से त्यागना होगा, अपने को निष्काम सेवा के मार्ग पर चलाने के लिये संकल्पित करना होगा। यदि हम ऐसा कुछ कर सके, तो हम यदि महापुरुषों के बराबर समाज-सुधार न कर सके, तो कुछ सीमा तक अवश्य कर सकते हैं। कहावत है कि **"अकेला चना क्या भाड़ फोड़ सकता है"** ? पर यह भी सत्य है कि यदि वह भाड़ नहीं फोड़ सकता, तो किसी की आंख फोड़ने की क्षमता उसमें अवश्य होगी। पर इस क्षमता को पूर्णरूप से पहचानने की आवश्यकता है। आओ, हम सब शुभ-चिन्तक जन अपनी क्षमता को हनुमान की तरह पहचानकर समाज व देश के उत्थान के कार्य में संलग्न हो जायें, अवश्य ही समाज में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आयेगा।

"धर्म संवर्द्धिनी सभा" इसी प्रकार के सामाजिक कार्यों को विगत कई वर्षों से करने में संलग्न है। आपके लिये भी समाज-सुधार करने का एक सरल-सीधा प्लेटफॉर्म है, जिससे धर्म-संस्कृति को बचाने का प्रयत्न किया जा सकता है। आवश्यकता है कि आप इस संस्था से जुड़ें और अपने तन-मन-धन की आहुति देकर धर्मयज्ञ का पूर्ण संवर्द्धन करें, तभी स्वयं का तथा मनुष्य-समाज का कल्याण सम्भव होगा। यदि आप और हम सब ने ऐसा किया तो यह पुण्य का कार्य जहां समाज-सुधार के कार्य को करेगा, वहां आपके जीवन में धर्मलाभ से आपकी आत्मा को अवश्य ही सुसंस्कृत करेगा। अतः आप धर्म के कार्यों में सदैव अपनी वृत्ति-प्रवृत्ति बनाकर इस प्रकार के कार्यों से समाज का पुनरुद्धार करने का संकल्प लें। ❑

वेदामृतम्

आचार्य श्याम

ओ३म् सूनृतांवन्तः सुभगा इरांवन्तो हसामुदाः।
अतृष्या अंक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिंभीतन ॥

(अथर्व0 7/60/6)

(ब्रह्मा ऋषिः। रम्या गृहाः वाष्तोष्पतयश्च देवताः। अनुष्टुप् छन्दः)

पदच्छेद –

सूनृता-वन्तः। सु-भगाः। इरा-वन्तः। हसा-मुदाः। अतृष्याः। अक्षुध्याः। स्वः। गृहाः। मा। अस्मद्। बिभीतन ॥

शब्दार्थ –

(सूनृतावन्तः) सत्यभाषण करनेवाले बनो **(सुभगाः)** सौभाग्यशाली अर्थात् उत्तम भाग्यवाले बनो **(इरावन्तः)** सदा अन्न-धन-धान्य से भरपूर रहो **(हसामुदाः)** हंसमुख तथा प्रसन्न चित्त वाले होकर रहो **(अतृष्याः)** तृष्णा से रहित बनो **(अक्षुध्याः)** कभी भूखे व अभाव-ग्रस्त न रहो **(स्तः)** होओ **(गृहाः)** हे गृहस्थ लोगो ! आप **(मा)** नहीं **(अस्मद्)** हमसे **(विभीतन)** भयभीत होओ।

भावार्थ –

हे गृहस्थ लोगो ! आप सदा सत्यभाषण करनेवाले सौभाग्यशाली बनो। तुम्हारे घर सदा अन्न-धन से भरपूर रहें। तुम सदा हंसमुख प्रसन्न रहो। तृष्णा से रहित होकर जीवन व्यतीत करो। कभी अभावग्रस्त न बनो और हमसे कभी भयभीत मत होओ। अर्थात् हमारे घरों के सब सदस्य हर प्रकार से सम्पन्नता को प्राप्त कर, उदारतापूर्वक और प्रसन्नता के व्यवहार से सौभाग्यशाली बनें। प्रभु कृपा से ऐसे सद्गृहस्थों के परिवार में कभी अभाव व भय जैसे दोष न उत्पन्न हों।

व्याख्या –

भारतीय संस्कृति में वर्णाश्रम व्यवस्था का अत्यन्त महत्त्व है। मानव जीवन की सर्वांगीण उन्नति के लिये ऋषि-मुनियों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार वर्ण तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चार आश्रमों के नियमों का निर्धारण किया है। ऋषियों ने मनुष्य जीवन की न्यूनतम आयु को पच्चीस-पच्चीस वर्ष के अन्तराल से चार भागों में विभाजित कर क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों से जोड़ा। ब्रह्मचर्य जीवन की प्रथम अवस्था है, जिसमें बाल्यावस्था में बल और ज्ञान का संचय कर संवर्द्धन करने का पूर्ण प्रयास किया जाता है। गृहस्थ जीवन की दूसरी अवस्था है, जिसमें पारिवारिक वृद्धि के साथ-साथ मानव जीवन को इस प्रकार व्यावहारिक ज्ञान के द्वारा उपयोगी बनाया जाता है, जिससे परिवार, समाज, राष्ट्र व विश्व की सम्यक् वृद्धि-समृद्धि हो सके। वानप्रस्थ जीवन की तृतीय अवस्था है जिसमें मनुष्य आत्मा की तथा समाज की उन्नति के लिये अभ्यास व प्रयत्न करता हुआ अपनी मनोवृत्तियों को वासनाओं से पृथक् करने का प्रयत्न करता है। संन्यास जीवन की चतुर्थ अवस्था है, जिसमें मनुष्य वासनाओं से पृथक् रहकर अपनी आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़कर आनन्द का उपभोग करता हुआ अपने जीवन में प्राप्त सम्यक् ज्ञान तथा स्वाध्याय-चिन्तन की कणिकाओं को निर्बाध रूप से समाज में बिखेरने का प्रयत्न करता है, ताकि समाज के अन्य मनुष्य भी उस सद्ज्ञान को प्राप्त कर मानव जीवन के वास्तविक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील हों। इस अवस्था में संन्यासाश्रमी वासना-मोह आदि से पृथक् होकर अपने आत्मा को तथा विचारों को इतना विस्तृत करने का प्रयास करता है कि उसके लिए सम्पूर्ण समाज व विश्व ही अपना परिवार होता है। वह किसी के प्रति राग-द्वेष की भावना नहीं रखता, वरन् वह अपनी प्रेममय दृष्टि से सबके प्रति मित्रता का भाव रखता है। इस प्रकार चार आश्रमों की व्यवस्था मनुष्य जीवन के सर्वांगीण उन्नति कराते हुए लक्ष्य को प्राप्त करने का उच्चतम सोपान माना गया है। इस व्यवस्था के अतिरिक्त सर्वांगीण उन्नति करने का अन्य कोई साधन नहीं है, ऐसा ऋषि-मुनियों ने अपने अनुभव और सद्ज्ञान के द्वारा संसार के समस्त मानवों को सन्देश दिया।

उपर्युक्त इन चार आश्रमों में सबसे बड़ा आश्रम संन्यासाश्रम माना गया है। कारण स्पष्ट है कि इस आश्रम की अवस्था तक पहुंचते-पहुंचते मनुष्य अपने हर प्रकार के ज्ञान, अनुभव का सदुपयोग करता हुआ अपनी आत्मा को उस परम आत्मा से संयुक्त करने का प्रयत्न करता है, जिसके लिए वह अनेकों जन्मों को प्राप्त करता हुआ अनन्त आकाश में न जाने कब से उड़ रहा से उड़ रहा था। यह आश्रम अपने नीड (विश्राम-स्थली) को प्राप्त करने का तथा लक्ष्य (मोक्ष= आनन्द) को प्राप्त करने का अन्तिम सोपान है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा जीवन नहीं, जिसको प्राप्त कर यह आत्मा शान्ति व आनन्द

को प्राप्त कर सके। इस कारण से भारतीय संस्कृति में संन्यासाश्रम को आज भी सबसे अधिक पूजनीय व सम्माननीय माना जाता है। व्यवहारिक धरातल पर भी यदि ग्रामीणजनों को अथवा शहरीजनों को देखें, तो जिनके संस्कारों में भारतीय संस्कृति का समावेश है, वे अधिक व कम उम्र वाले संन्यासी के प्रति नतमस्तक होना अपना सौभाग्य मानते हैं।

परन्तु यदि हम दूसरी ओर शास्त्रों के पक्ष और सांसारिक कर्त्तव्य की दृष्टि से देखें, तो जितना संन्यासाश्रम पूजनीय है, उससे भी अधिक गृहस्थाश्रम को ज्येष्ठ व श्रेष्ठ आश्रम माना गया है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि संन्यास छोटा है या गृहस्थाश्रम बड़ा है। ऐसा आंकलन करना शायद उसको पूर्णरूप से न समझने के कारण भूल ही कहा जायेगा। बात स्पष्ट यह है कि सर्वांगीण उन्नति जिस आश्रम तक जाकर की जा सकती हो, वह सर्वश्रेष्ठ है, पर सर्वांगीण उन्नति में यदि गृहस्थाश्रम का भी योगदान है, तो फिर गृहस्थाश्रम को भी ज्येष्ठ व श्रेष्ठ आश्रम मानना अत्युक्तिपूर्ण न होगा। इसका स्पष्ट कारण महर्षि मनु लिखते हैं –

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्व जन्तवः।
तथा गृहस्थामाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥

(मनु0 3/77)

अर्थात्– जैसे बिना वायु के संसार में किसी भी प्राणी का जीवन असम्भव है, उसी प्रकार बिना गृहस्थ के किसी भी आश्रम का होना असंभव है। कारण स्पष्ट यह है कि जैसे जीवन जीने के लिये प्राण तत्त्व का होना अत्यावश्यक है, उसी प्रकार समस्त आश्रमों की सम्यक् व्यवस्था के लिये गृहस्थाश्रम का होना अनिवार्य है। गृहस्थ आश्रम ही एक ऐसा आश्रम है जिसमें जाकर मनुष्य केवल परिवार का ही संरक्षण नहीं करता, वरन् वह ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास का भी सम्यक् संरक्षण करता है। गुरुकुल में पढ़नेवाला ब्रह्मचारी अपने सम्पूर्ण समय का सदुपयोग बल और ज्ञान प्राप्त करने में व्यय करता है, तो उसकी शेष व्यवस्था भोजन-वस्त्रादि अन्य आवश्यकताओं की गृहस्थी माता-पिता तथा अन्य अभिभावकों के द्वारा किया जाता है, जिसके कि उसके बल और ज्ञान प्राप्ति में किसी प्रकार की बाधा न हो। इसी प्रकार जो मनुष्य गृहस्थ छोड़ करके जंगल या आश्रम में जाकर अपनी आत्मा को समुन्नत करने के लिये प्रयत्नशील है, यदि उसकी व्यवस्था गृहस्थी लोगों द्वारा न हो, तो फिर वह बुद्धि और आत्मा की सम्यक् उन्नति नहीं कर सकता। इसी प्रकार जिस मनुष्य ने अपना सम्पूर्ण घर-परिवार छोड़कर धनादि के प्रति एषणाओं को समाप्त कर अपना समय तप और साधना में व्यतीत करने का संकल्प कर लिया, यदि उस संन्यासी के भोजन-वसन की व्यवस्था गृहस्थियों द्वारा न की जाय, तो फिर उसकी तप-साधना कैसे हो सकेगी ? मूलभूत आश्वयकताओं को जुटाने व संभालने की जिम्मेदारी जब गृहस्थी उठाता है, तब कहीं जाकर अन्य आश्रमों में मनुष्य अपने-अपने कर्त्तव्य का निर्बहण कर सकता है। यदि गृहस्थी उन जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की जिम्मेदारी का निर्बहण न

करे, तो अन्य आश्रमवाले अपने कर्त्तव्य का पूर्णता से पालन नहीं कर सकते। इस कारण से समस्त आश्रमों का सहायक, अन्नदाता होने के कारण गृहस्थाश्रम को ज्येष्ठ व श्रेष्ठ आश्रम माना गया है। परन्तु यह गृहस्थाश्रम कैसा हो, गृहस्थी किस प्रकार के शुभ लक्षणों से युक्त हों, इसकी चर्चा वेद में अनेकों मन्त्रों में प्राप्त होती है। परन्तु हम यहां जिस मन्त्र को प्रस्तुत कर रहे हैं, उस मन्त्र में गृहस्थी किन-किन गुणों से युक्त हो, इसका विवेचन करते हुए मन्त्र में सबसे पहला लक्षण कहा है -

(1) सूनृतावन्तः = सूनृतावन्त का अर्थ है - सत्यभाषण करनेवाला बनना। अर्थात् प्रत्येक सद्गृहस्थी को अपना गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ बनाने के लिये सत्य बोलने का संकल्प लेना चाहिये। जबकि हम संसार में देखते हैं कि आज सत्य के स्थान पर निरन्तर झूठ बोलने का प्रयास किया जा रहा है। नाम सत्य का लिया जाता है, पर असत्य बोला जाता है। जबकि हम यह भी जानते हैं कि बिना सत्य के असत्य का व्यवहार भी नहीं चल सकता। असत्यरूपी राक्षस सत्य का चोला पहन करके ही संसार में अपना डंका बजाने की कोशिश करता है। यदि असत्य के शरीर से सत्य के बाने को उतारकर फैंक दिया जाय, तो फिर असत्य अपने-आप में भागकर छिपता हुआ दिखाई देगा। आप इस बात को छोटे से उदाहरण से समझ सकते हैं। मान लीजिये कि दूध का व्यापार करने की इच्छा से किसी व्यक्ति ने अपनी दुकान खोली। वह दुकानदार जब अपनी दुकान में लगवाने के लिये कोई साइनबोर्ड को बनवायेगा, तो उसमें लिखेगा कि - **"यहां गाय भैंस का खालिस दूर मिलता है।"** इस वाक्य को पढ़कर लोग उसकी शुद्ध दूध की गारन्टी मानकर दूध लेना प्रारम्भ कर देते हैं, बल्कि वह व्यापारी दूध में पानी मिलाकर बेचता है। अब यदि आप उसी व्यापारी को यह कहें कि - लाला जी ! आप जब दूध में पानी मिलाकर बेचते हैं, तो फिर आप अपनी दुकान के इस बोर्ड पर यह क्यों नहीं लिख देते कि - "यहां पानी मिला हुआ गाय-भैंस का दूध मिलता है।" यह बात उस व्यापारी के गले नहीं उतरेगी। और वह तो क्या अन्य मिलावट करनेवाले किसी भी बेईमान व्यापारी के गले नहीं उतरेगी, और वह इस प्रकार की बात लिखाने के लिये कभी सहमत न होगा, क्योंकि ऐसी सलाह मानने से उसको अपनी दुकान निश्चित रूप से बन्द करनी पड़ेगी।

इस उदाहरण से यह ज्ञात हुआ कि सत्य की आड़ लेकर ही असत्य अपना कार्य करता है। पर जैसे-जैसे लोगों को यह मालूम पड़ता जाता है कि यह व्यापारी झूंठा है, तो फिर उसका परिणाम भी उसी व्यापारी को घाटे के रूप में देखना पड़ता है। इसके विपरीत यदि कोई व्यापारी सत्य का व्यवहार करता है, शुद्ध-पवित्र वस्तुओं को बेचकर ईमानदारी से अपना व्यापार करता है, तो वह इस कार्य से स्वयं ही समुन्नत नहीं होता, बल्कि पीढ़ी-दर-पीढ़ियां उसकी सत्यता के गुण का लाभ उठाती हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सत्य सदा स्थिर रहता है, इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सत्य बोलने का सदा ही प्रयत्न करना चाहिये। कहा भी है -

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥

(महाभारत, शा0 162/24)

अर्थात् - सत्य से बड़ा कोई धर्म नहीं और झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं। सत्य की धर्म का मूल [आधार] है, इसलिये सत्य का अपने व्यवहार में कभी लोप न करे।

कई लोग कहा करते हैं कि सत्य बोलने से संसार में काम नहीं चलता, असत्य बोलना ही पड़ता है। ऐसे व्यक्ति संसार के अन्दर ईश्वरीय-सिद्धान्त का ठीक प्रकार से दर्शन नहीं करते। संस्कृत भाषा में एक शब्द है - **हेत्त्वाभास।** अर्थात् जहां हेतु=कारण न हो, पर उसका आभास होता है। यदि कोई मनुष्य किसी हेतु को न समझकर हेत्त्वाभास के जाल में फंस जाये, तो वह निश्चित जान लीजिये कि अपने लक्ष्य को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। जबकि उसका श्रम निरन्तर कारण जानने के लिये हो रहा है। इसी प्रकार जो लोग असत्य को अपनी उन्नति का कारण मानते हैं, वे कहीं न कहीं भ्रम में हैं। क्योंकि असत्य को मानने वाला कभी श्रेष्ठ परिणाम प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिये वेद भगवान् पुकार-पुकार कर कह रहे हैं - संसार के लोगो ! यदि तुम अपने घर को स्वर्ग बनाना चाहते हैं, तो अपने व्यवहार में सत्य बोलने का संकल्प लो। पति-पत्नी के मध्य में व्यवहार हो, चाहे माता-पिता व समाज के लोगों के प्रति, हर स्थान पर तुम्हें सत्य की बोलना चाहिये। अरे ! सत्य वह बूटी है जिसमें छल-कपट, राग-द्वेष की भावना हृदय में नहीं रह सकती। सत्य के व्यवहार करनेवाला स्वयं भी हृदय, बुद्धि व आत्मा से पवित्र होता है, और साथ में अपने पवित्र व्यवहार व कार्य से दूसरों को भी पवित्र करता है। सत्य का व्यवहार केवल भौतिक जगत् में ही सुखदायी नहीं होता, बल्कि आध्यात्मिक और पारलौकिक जगत् में भी मनुष्य का सहायक होता है। सत्य पर चलने वाला व्यक्ति ही परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। तभी तो वेद ने कहा है -

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

(यजु0 19/30)

निरन्तर उत्तम व्रतों के पालन करने वाला मनुष्य दीक्षा को प्राप्त करता है। दीक्षित व्यक्ति की सच्चे ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। सच्चे ऐश्वर्यवाला व्यक्ति की श्रद्धा को प्राप्त कर श्रद्धावान् बनता है, और उसी श्रद्धा के सद्गुण के द्वारा वह सत्यरूपी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि सत्य केवल भौतिक जगत् का ही नहीं, बल्कि आध्यात्मिक जगत् का भी इतना अधिक सहायक है जिससे मनुष्य परमात्मा की सन्निकटता को प्राप्त कर लेता है। इसलिये वेद यहां भी गृहस्थ को समुन्नत करने के लिये पुकार-पुकार कर कह रहा है - "सूनृतावन्तः" हे संसार के लोगो ! यदि तुम घर-परिवार, समाज व राष्ट्र को समुन्नत देखना चाहते हो तो सदा सत्य भाषण करनेवाले बनो। सत्य भाषण करने का अधिकारी वही होता है, जो सत्य को

सुनता है, सत्य को जानता है, सत्य का ही आचरण करता है और सत्य की ही अभिव्यक्ति दूसरों के कल्याण के लिये करता है। इसलिए सद्गृहस्थी बनने के लिये **सूनृतावन्त** होना परमावश्यक है।

(2) सुभगाः - सौभाग्यशाली बनना, सुन्दर भाग्यवाला बनना। जिस मनुष्य के जीवन में धन, बल, मान, प्रतिष्ठा आदि समस्त ऐश्वर्य हैं, हम प्रायः ऐसे लोगों को सौभाग्यशाली समझते हैं। सौभाग्यशाली का अर्थ है - सुन्दर भाग्यवाला। यही भाव सुभगा शब्द में भी निहित है - **सु+भगा = सुन्दर भाग्यवाला।**

हम सब जानते हैं कि भाग्य वह है जिसको हमने पूर्व जन्म के कर्मों द्वारा संचित किया है, अर्थात् पूर्व जन्म के कृतकर्म का नाम भाग्य है और वर्त्तमान समय के कृतकर्म का नाम पुरुषार्थ। अब प्रश्न होता है कि सुन्दर भाग्य कैसे बनता है ? इसका सीधा सा उत्तर है कि यदि श्रेष्ठ कर्म किया जाय तो उसके द्वारा सुन्दर भाग्य का निर्माण होता है। क्योंकि कर्म तीन प्रकार के होते हैं - **(1) प्रारब्ध (2) संचित (3) क्रियमाण।** कर्म ये तीनों प्रकार पूर्व जन्म में भी हमारे साथ थे, अब भी हैं और आगे भी रहेंगे। जैसे जीवात्मा अनादि है, वैसे ही जीवात्मा का कर्म-प्रवाह भी अनादि है। जो वर्त्तमान में जीवात्मा द्वारा कार्य किया जाता है, उसे क्रियमाण कर्म कहते हैं। जैसे - किसान द्वारा खेत को जोतना, पाटा लगाना, कंकड़-पत्थर निकाल करके बीज-बपन के योग्य भूमि को बनाना, यह सब क्रियमाण कर्म है। पर खेत में जब बीज का वपन कर दिया, तो वह बीज तुरन्त पौधा बनकर नहीं निकलता, उसके लिये कुछ समय प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यह भी सत्य है कि यदि बीज भूमि में न बोया जाता, तो वह न कभी पौधा वनता और न कभी बड़ा होकर फल देता। पर यह भी सत्य है कि इस बीज को भूमि के अन्दर रखना पड़ता है, बोना पड़ता है, रक्षित-सेवित करना पड़ता है, प्रतीक्षा करनी पड़ती है, इस बीज वपन के कार्य का नाम संचित कर्म है। इस संचित कर्म के कुछ समय बाद जब वह बीज वृक्ष बनकर फल प्रदान करता है, तो उस फल का नाम प्रारब्ध है। इसी का दूसरा नाम भाग्य है। इससे यह प्रतीत हुआ कि जो क्रियमाण कर्म था, वह संचित कर्म के रूप में परिणित हुआ और जो संचित कर्म था, वह प्रारब्ध = भाग्य के रूप में प्रकट हुआ। पर इसके साथ-साथ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि किसान द्वारा जैसा बीज बोया जाता है, वह फल भी वैसा ही पाता है। यदि आम का बीज बोयेगा तो आम के फल को प्राप्त करेगा, और यदि मिर्च का बीज बोयेगा तो मिर्च को प्राप्त करेगा।

इसीलिये वेद भगवान् कहते हैं कि यदि तुम सौभाग्यवान् बनना चाहते हो, तो तुम्हारा क्रियमाण और संचितकर्म भी श्रेष्ठ होना चाहिये, तभी प्रारब्ध के रूप में सौभाग्य का फल खाने को मिलेगा। पर बिडम्बना यह है कि आज का मनुष्य अश्रेष्ठ, कुत्सित कर्मों का बीज बोकर अर्थात् मिर्च का बीज बोकर आम प्राप्त करना चाहता है, जबकि यह भाव ईश्वरीय-नियम के विरुद्ध है। कहा भी है -

धर्मं प्रसङ्गादपि नाचरन्ति
पापं प्रयत्नेन समाचरन्ति।
आश्चर्यमेतद्धि मनुष्यलोके
अमृतं परित्यज्य विषं पिबन्ति॥

अर्थात् - मनुष्य समय आने पर भी धर्म का आचरण नहीं करता, यदि करता है तो पूर्ण प्रयत्न के अधर्म का। कितनी अद्‌भुत बात इस मनुष्य लोक में है कि अमृत को छोड़कर मनुष्य विष का पान करता है।

तब सिद्धान्त यह बना कि श्रेष्ठ क्रियमाण कर्म ही श्रेष्ठ संचितकर्म का निर्माता है, और श्रेष्ठ संचितकर्म ही प्रारब्ध रूपी फल जिसे सौभाग्य कहते हैं, उसका दाता है। तो निष्कर्ष यह निकला कि सौभाग्यवान् बनने के लिये हमें अपने कर्म को श्रेष्ठ व यज्ञीय बनाना पड़ेगा। संसार में भी जो सौभाग्यशाली लोग देखे जा रहे हैं, उनके पूर्वजन्म के क्रियमाण और संचितकर्म श्रेष्ठ हैं, तभी तो वे सौभाग्य को प्राप्त कर रहे हैं। यदि वे इस जन्म में भी श्रेष्ठकर्म करते रहेंगे, तो फिर उस कर्म के परिणाम से उन्हें आगे भी सौभाग्य प्राप्त होता रहेगा, और यदि इनके विपरीत कुत्सित कर्म करेंगे तो वे ईश्वरीय व्यवस्था से फिर सौभाग्य से वंचित हो जायेंगे। इसलिये सौभाग्य, दुर्भाग्य का निर्माता अन्य कोई नहीं, मनुष्य स्वयं ही है। अतः प्रत्येक सद्‌गृहस्थ को चाहिये कि कर्म करते समय उचित-अनुचित का सम्यक् विवेक कर मात्र श्रेष्ठ कर्म को ही करें, जिससे उनका सौभाग्य निरन्तर बलवान् होता रहे। याद रखो कि सौभाग्यशाली व्यक्ति ही संसार में सुख का पात्र होता है।

(3) इरावन्तः = इरावन्तः का अभिप्राय है कि हमारे घर धन-धान्य से पूरित रहें। क्योंकि गृहस्थ में धन-धान्य की परिपूर्णता नहीं है तो गृहस्थ का रथ ठीक प्रकार से नहीं चल सकता और न बच्चों का ठीक प्रकार से परिपालन हो सकता है। इसलिये गृहस्थ में प्रवेश करनेवाले पुरुष का कर्त्तव्य है कि अपने पुरुषार्थ से घर में अन्न आदि जीवनोपयोगी साधनों की कभी कमी न होने दे। उसका घर धन-धान्य से सदा परिपूर्ण रहे। पुरुष जहां अपने पुरुषार्थ से धन-धान्य द्वारा घर को भरने का प्रयास करे, वहां स्त्री अपने श्रेष्ठ गुण एवं पुरुषार्थ से उस धन-धान्य का परिवार, समाज में इस प्रकार वितरण करे कि परिवार के सदस्य कभी अभाव से संत्रस्त न हों।

विवाह के बन्धन में जब स्त्री-पुरुषों को वैवाहिक कार्यक्रम की पद्धति के द्वारा पूर्णरूप से एक होने का संकल्प कराया जाता है, तब उस कार्यक्रम के अन्तिम भाग में सप्तपदी में सात कदम क्रमशः आगे बढ़ाते हुए सर्वप्रथम वर-वधू संकल्प करते हैं कि हमारे घर में कभी अन्नादि पदार्थों की कमी नहीं होगी। हम दोनों मिलकर इतना पुरुषार्थ करेंगे कि हमारा घर केवल अन्नादि पदार्थों से ही न भरा हो, बल्कि वह अन्नादि पदार्थ ऊर्जावान् होंगे। मात्र ऊर्जावान् अन्न ही हमारे घर में न हो, बल्कि जीवन की अन्य भौतिक आवश्यकताओं के लिये धन भी हो। वह धन सुख देनेवाला हो, परिवार की समृद्धि व पुष्टि करनेवाला हो। इस प्रकार हम दोनों ऋतु अनुकूल व्यवहार करते हुए सख्यता, स्नेह के सूत्र में अपने को बांधकर गृहस्थाश्रम की समस्त

जिम्मेदारियों का पूर्णता से निर्बहण करने का भरसक प्रयत्न करेंगे।

सप्तपदी की इन प्रतिज्ञाओं में गृहस्थ की समुन्नति का चित्रण खींचकर पति-पत्नी की जिम्मेदारियों का जो संदेश दिया है, उसी संदेश को इस वेदमन्त्र ने पूर्णता से समझाया है, और इसी आधार पर वेद भगवान् सद्गृहस्थी बनने के लिये स्त्री-पुरुष को आदेश देते हैं कि तुम्हारे घर सदैव धन-धान्य से पूर्ण हों, ऐसा तुम पुरुषार्थ और सत्कर्म से सदैव प्रयत्न करो। धन-धान्य से पूरित मनुष्य जहां अपने परिवार के सदस्यों का परिपूर्णता के साथ पोषण करता है, वहां वह अतिथिसेवा, पितरसेवा आदि जीवन के अत्यावश्यक कार्यों का निर्बहण भी सम्यक् रूप से करता है। अतः पति-पत्नी को चाहिये कि सद्गृहस्थी बनने के लिये अपने घर में धन-धान्य का अभाव कभी न आने दें।

(4) हसामुदाः= इस शब्द में दो भावों का स्पष्ट सन्देश है। प्रथम है - हंसना, और द्वितीय है - प्रसन्न या आनन्दित रहना। दोनों भावों को एक सूत्र में पिरोकर हसामुदा शब्द का निर्माण किया गया है।

अब आपके मन में प्रश्न होगा कि हंसने वाला व्यक्ति ही प्रसन्न व आनन्दित होता है, या प्रसन्न रहनेवाला व्यक्ति ही हंस सकता है, तो फिर दोनों बातों को कहने की यहां क्या आवश्यकता थी? या तो हंसने की बात कह दी जाती या प्रसन्न रहने की बात। एक भाव ही दूसरे भाव का स्वयं पूरक है, इसलिये दोनों बातें कहने की आवश्कता नहीं थी।

जब इस बात पर आप गम्भीरता से विचार करेंगे और संसार में रहनेवाले मनुष्यों के व्यवहार का निरीक्षण-परीक्षण करेंगे, तो आप यह पायेंगे कि हंसनेवाला व्यक्ति यह आवश्यक नहीं कि वह प्रसन्नता व आनन्द से युक्त हो, या प्रसन्न रहनेवाला व्यक्ति हंसनेवाला भी हो। यह दोनों बातें संयुक्त रूप से अपवाद में देखी जाती हैं, सामान्यतः इसका अभाव है। अनेकों हंसनेवाले लोग अपने साथियों में जब उठते-बैठते हैं, तो फिर खूब हंसते हुए दिखाई देते हैं। पर जब उनका घर में प्रवेश होता है और घर की समस्याओं जिम्मेदारियों को देखते हैं, तो उनका हंसने का गुण काफूर हो जाता है, और वे घर में गम्भीर मुद्रा में अपने घर के कमरे में बैठे देखे जा सकते हैं। पत्नी उनकी कुशल-क्षेम पूछती है, वे उसका ठीक उत्तर भी नहीं देते। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो प्रसन्न तो रहते हैं, पर उस प्रसन्नता को हंसने के गुण में प्रकट नहीं कर सकते।

इसलिये **'हसामुदाः'** शब्द प्रत्येक गृहस्थी को संदेश देता है कि - हे गृहस्थी लोगो! तुम खूब आनन्दमय-प्रसन्नमय जीवन व्यतीत करते हुए इतने हंसमुख स्वभाववाले बन जाओ कि कठिन से कठिन परिस्थिति में तुम्हारे मुख पर विषाद की रेखा न बने। गृहस्थ में सभी परिस्थितियां अपने अनुकूल नहीं होतीं। अन्य आश्रमों में जिम्मेदारी एकाकी रूप में होती है, पर गृहस्थ में जाने के बाद वह जिम्मेदारी बहुरूपी हो जाती है। उसमें मात्र स्वयं के जीवन की जिम्मेदारी नहीं होती, बल्कि बूढ़े माता-पिता,

अपनी पत्नी तथा बच्चों की भी होती है। और इन जिम्मेदारियों का निर्बहण करते-करते गृहस्थी को सामाजिक व राष्ट्रीय धर्म भी निभाने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में यदि गृहस्थी अपने को प्रसन्न व हंसमुख बनाने का प्रयास न करेगा, तो जहां वह अनेकों अवसादों ये युक्त होकर रोगी बन जायेगा, वहां उसके रोगी बनने से उसका सम्पूर्ण परिवार का ताना-बाना भी बिखरने की स्थिति में आ जायेगा। इसलिये इन सब समस्याओं का निदान है - हंसना, प्रसन्न रहना, आनन्दित रहना।

आप कभी कल्पना कीजिये कि जब आप पार्क में सैर करते समय अपने मित्रों के साथ **हास्य-योग** करते हैं, जब उसका सकारात्मक प्रभाव आपके शरीर और मन पर अच्छा पड़ता है, तो जब आपका स्वभाव ही हंसने और प्रसन्न रहनेवाला बन जायेगा, तब कितनी बड़ी सकारात्मक ऊर्जा आपके पास होगी, यह आप स्वयं सोच सकते हैं। याद रखो, सकारात्मक ऊर्जा के लिये हंसना, प्रसन्न रहना, आनन्दयुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है। सभी परिस्थितियां अनूकूल नहीं होतीं, उनको अनुकूल अपने विवेक व पुरुषार्थ से बनाया जाता है, पर उसमें हंसना और प्रसन्न रहने का सम्मिश्रण न किया जाय, तो फिर जीने का कोई विशेष लाभ नहीं। यदि मन्त्र के पूर्व शब्दों के भावों का समावेश घर में हो जाये, अर्थात् सत्यभाषण करनेवाले, उत्तम कर्म करते हुए धन-धान्य से पूरित यदि आपका परिवार हो, तो निश्चित रूप से आपका मन प्रफुल्लित रहेगा और उसका परिणाम हंसने के रूप में आपको प्राप्त होगा। पर याद रखो यदि विपरीत परिस्थितियां आपके सम्मुख आकर खड़ी हो जाती हैं, उस स्थिति में पुरुषार्थरूपी शस्त्र से मुकाबला करना जहां गृहस्थी का कर्त्तव्य है, वहां समस्याओं को प्रभुचरणों में रख देना भी आपका कर्त्तव्य है। आप ऐसा न समझें कि मैं अपने पुरुषार्थ से सभी समस्याओं का समाधान कर सकता हूं, बल्कि आपको यह सोचना चाहिये कि पुरुषार्थ करना मेरे अधीन है, पर उन विपरीत परिस्थितियों के जूझने के लिये सामर्थ्य तो प्रभु-कृपा से ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिये अपने आपको प्रभु-चरणों में समर्पित करने का सूत्र जहां आपको प्रसन्न रखने में सहायक होगा, वहां आपकी प्रसन्नता हास्य के रूप में अवश्य मुखरित होगी। मेरी दृष्टि में **प्रसन्नता आन्तरिक गुण है, और हंसना उसका बाह्य परिणाम है।** इसलिये प्रसन्नता व आनन्द प्राप्ति के लिये निरन्तर प्रयत्न करो, हंसी आपके चेहरे पर स्वयं आ जायेगी। बिना प्रसन्नता, आनन्द व हंसी के गृहस्थ की जिम्मेदारियों का सम्यक् निर्बहण नहीं हो सकता। इसलिये वेद सद्गृहस्थी बननेवालों को बार-बार आगाह करते हुए कह रहा है - **हसामुदाः** - अर्थात् हंसनेवाले, प्रसन्न रहनेवाले तथा आनन्द से युक्त बनो।

(5) अतृष्याः = अतृष्या का अभिप्राय है - तृष्णा से रहित होना। तृष्णा जीवन की वह प्यास है जिसको कभी समाप्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य अपनी शुभ इच्छाओं की पुरुषार्थ के द्वारा

पूर्ति कर सकता है, परन्तु तृष्णा की पूर्ति कभी भी सम्भव नहीं है। तृष्णा का अर्थ है - असीमित इच्छायें। जिन इच्छाओं की कोई सीमा न हो, अर्थात् एक इच्छा के साथ दूसरी, दूसरी के साथ तीसरी, तीसरी के साथ चौथी, और आगे-आगे क्रमशः इसका तारतम्य इतना विस्तृत होता जाता है कि वह अनन्त इच्छाओं व कामनाओं के रूप में परिवर्तित हो जाता है। क्या कभी आपने देखा है ऐसा कोई मनुष्य, जिसकी कोई कामना व इच्छा न हो ? ऐसा केवल योगी ही हो सकता है, जिसकी कोई सांसारिक कामना नहीं। जिसने सांसारिक कामनाओं की पूर्ति की अभिलाषा साधना रूपी अग्नि में भस्म कर मात्र प्रभु-प्राप्ति की इच्छा रखी है, इसके अतिरिक्त उस साधक की अन्य कोई इच्छा नहीं है। ऐसे साधक को देखकर ही किसी शायर ने लिखा था-

भागती फिरती थी दुनियां,
जब तलब करते थे हम।
अब जो नफरत हमने की है,
तो बेकरार आने को है॥

उस साधक, तपस्वी, योगी को छोड़कर संसार में आपको ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं मिलेगा, जिसने अपनी इच्छाओं को पूरा कर लिया हो। याद रखो, जब मनुष्य अनन्त इच्छाओं के जाल में फंसता जाता है, तो जो कुछ उसके पास उपलब्ध है, वह उसका समुचित उपयोग भी नहीं कर पाता। बस यह भी मुझे मिल जाये, वह भी मिल जाये, इसी उधेड़बुन की दौड़ में वह अपना अमूल्य जीवन बिना लक्ष्य प्राप्ति किये यूं ही नष्ट कर देता है।

कहते हैं कि एक दरिद्र व्यक्ति अपने राजा के राज-दरबार में इस आशा से गया कि राजा उसको एक छोटा-सा भूमि का टुकड़ा अगर दे देगा, तो वह अपने बच्चों के जीवन यापन के लिये एक छोटा-सा घर बना लेगा। आज तक उसने जो श्रम किया है, उसमें उसकी रोटी का गुजारा होना ही जब पूर्णरूप से असम्भव है तो फिर अपने श्रम से घर बनाने की कल्पना करना तो बिल्कुल ही असम्भव है। उस दरिद्र व्यक्ति ने सोचा कि यदि इस राज्य का राजा मुझे ज़मीन का छोटा-सा टुकड़ा दे देगा तो मेरी यह इच्छा भी पूरी हो जायेगी। इस आशा के साथ यह दरिद्र व्यक्ति राज-दरबार में राजा के सम्मुख पहुंचा और उसने फरियाद की - महाराज ! आप अपने राज्य में से मुझे अपने परिवार के जीवन यापन के लिये एक छोटा-सा भूमि का टुकड़ा दे दें, तो मैं अपने परिवार के वसन के लिये एक छोटी-सी झौंपड़ी तैयार कर सकता हूं। महाराज! मैं इतना असमर्थ हूं कि आज तक अपने बच्चों के लिये कोई घर भी तैयार न कर सका।

राजा ने इस दरिद्र व्यक्ति की प्रार्थना सुनकर इस व्यक्ति से कहा - अरे ! बस इतनी छोटी-सी प्रार्थना के लिये तुम मेरे दरबार में आये हो, यदि तुम आज मुझसे कुछ और भी मांग लेते तो शायद मैं आज तुम्हारी उस इच्छा को भी पूरी कर देता। राजा की बात सुनकर उस दरिद्र व्यक्ति की आशा की डोर दृढ़ हो गई और उसके चेहरे पर सन्तुष्टि का भाव आ गया। इसने राजा से कहा - महाराज ! मुझे और कुछ नहीं, बस एक घर बनाने के लिये छोटा-सा भूमि का

टुकड़ा दे दीजिये। राजा ने इस व्यक्ति की बात सुनकर बड़ी प्रसन्नता के साथ कहा - अच्छा तुम्हें घर बनाने के लिये भूमि चाहिये, जिसमें तुम्हारा परिवार सुखपूर्वक रह सके। चलो, आज हम बहुत प्रसन्न हैं तुम्हें मात्र घर के लिये ही भूमि नहीं देंगे, बल्कि उससे भी अधिक देंगे। तुम इस समय मेरे दरबार से निकलकर मेरे राज्य के भू-भाग में आज सायं तक दौड़कर जितनी दूरी तय कर लोगे, मैं उतनी भूमि तुम्हें दे दूंगा, जिससे तुम्हारा परिवार केवल सुखपूर्वक घर बनाकर ही न रह सके, बल्कि उसकी खेती आदि का कार्य भी आसानी से हो सके। राजा के मुख से इतनी बात का सुनना था कि इस दरिद्र व्यक्ति के चेहरे पर एक चमक आ गई और बड़ी प्रसन्न मुद्रा में बोला - महाराज ! क्या आप यह सच कह रहे हैं? राजा ने कहा - हां, मैं सच ही कह रहा हूं। तुम जहां तक दौड़कर पहुंच जाओगे, वह राज्य का भाग तुम्हारा होगा। पर ध्यान रहे कि सायं सूर्य छिपने के बाद नहीं। इसलिये जाओ अब तुम्हें जितनी भी ज़मीन प्राप्त करने की इच्छा हो, ले सकते हो।

राजा की बात का सुनना था कि यह व्यक्ति तुरन्त राज-दरबार से निकलकर अधिक से अधिक भूमि प्राप्त करने की इच्छा से दौड़ पड़ा। अभी मुश्किल से एक घंटा ही दौड़ा होगा कि वह थक गया, पैर लड़खड़ाने लगे और एक वृक्ष के नीचे थकान उतारने की भावना से बैठ गया। सोचा कि कुछ क्षण थकान उतार लूं, फिर दौड़ना शुरू कर दूंगा, क्योंकि अभी सायं होने में कई घंटे हैं। इतना विचारकर यह वृक्ष के नीचे बैठा ही था कि अगले ही क्षण इसके मन में दूसरा विचार आया कि यह मौका तुझे जीवन में पहली बार मिला है, जितना तू दौड़ लेगा उतनी भूमि प्राप्त कर लेगा, इसलिये थकान की क्यों चिन्ता करता है, थकान तो कल उतार लेना, अब तू जितना तेजी से दौड़कर भूमि अधिक से अधिक प्राप्त सकता है कर ले, अन्यथा तू सारे जीवन दरिद्री ही बना रहेगा।

मन में विचार आते ही यह व्यक्ति तुरन्त उठा और पुनः दौड़ना शुरू कर दिया। दौड़ते-दौड़ते यह कई बार गिरा, कई बार उठा, पर इसने विश्राम करना उचित न समझा, क्योंकि बार-बार इसके मन में यही विचार आता था कि जितना तू अधिक से अधिक प्राप्त करना चाहता है प्राप्त कर ले, राजा ने मौका दिया है, ये मौका फिर नही मिलेगा, थकान तो कल भी दूर हो जायेगी। यदि तू राज्य के बहुत बड़े हिस्से को प्राप्त कर लेगा तो तू भी छोटा-सा राजा बन जायेगा, फिर दास-दासियां होंगे, और उस समय कोई तेरी आज्ञा का उल्लंघन न कर सकेगा, इसलिये अब दौड़, जितना अधिक दौड़ लेगा, उतने का तू मालिक बन जायेगा।

कहते हैं कि इस विचार ने इस व्यक्ति को इतना पागल बना दिया कि शरीर थकने के बाद भी ये दौड़ता रहा। अचानक पैरों ने धोखा दिया, मूर्च्छा आ गई और धड़ाम से गिर पड़ा। पर कुछ क्षण बाद जब इसकी चेतना पुनः जागी तो यह पुनः उठा और दौड़ने लगा। परिणाम यह हुआ कि आगे दौड़ते-दौड़ते यह एक स्थान पर ऐसा गिरा कि इसके प्राण पखेरू हो गये और यह

व्यक्ति संसार से सदा-सदा के लिये प्रयाण कर गया।

अब आप विचार करें कि कहां उस व्यक्ति को छोटा-सा घर बनाने के लिये भूमि का एक टुकड़ा चाहिये था, जिसको चार कदम तय करके ही प्राप्त किया जा सकता था, पर जब उसकी तृष्णा की आग जली और उसको स्वयं राजा बनने के स्वप्न आने लगे, तो उसकी उस तृष्णा ने उसे इतना अन्धा बना दिया कि उसको इतना दौड़ाया कि वह राज्य तो क्या बिना कुछ प्राप्त किये संसार से ही प्रयाण कर गया। बस, इसी तृष्णा की अग्नि को शान्त करने के लिये वेद आदेश देता है। कामना अर्थात् इच्छा से युक्त होना बुरा नहीं, पर इच्छाओं के वशीभूत हो जाना ही अत्यन्त बुरा है। इसलिये आद्य जगत्गुरू शंकराचार्य से जब यह पूछा गया कि - **"स्वर्गपदं किम्"** अर्थात् स्वर्ग-पद क्या है ? तो उसका उत्तर एक शब्द में देते हुए उन्होंने बहुत सुन्दर कहा - **"तृष्णाक्षयः"** अर्थात् तृष्णा का समाप्त होना ही स्वर्गपद प्राप्त कर लेना है।

इसलिये याद रखो अपनी सीमित इच्छाओं को रखकर यदि उन्हें पूर्ण करने के लिये पुरुषार्थ करो तो वह पूरी भी हो सकती हैं, पर असीमित इच्छाओं को पूरा करना तो मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है। इसलिये मनु जी ने इस बात को समझाने के लिये बहुत सुन्दर लिखा -

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय ऐवाभिवर्द्धते॥
(मनु0 2/94)

जैसे अग्नि में घी डालने से अग्नि और अधिक बढ़ती है, उसी प्रकार जितना-जितना इच्छाओं को पूरा करते जाओगे, उतनी ही इच्छायें अधिक बढ़ती चली जाती हैं। जैसे अग्नि में घृत डालने से अग्नि कभी बुझती नहीं, बल्कि और अधिक बढ़ती है।

आचार्य चाणक्य ने भी इसी भाव का समर्थन करते हुए कहा है -

तृष्णे देवि ! नमस्तुभ्यं यया वित्तान्विता अपि।
अकृत्येषु नियोज्यन्ते भ्राम्यन्ते दुर्गमेष्वपि॥
(प0 5/76)

अर्थात् - हे देवी तृष्णे ! तुमको प्रणाम है। क्योंकि तृष्णा के वशीभूत होकर श्रेष्ठजन भी अनुचित कार्य करने में प्रवृत्त हो जाते हैं और दुर्गम स्थानों पर भटकते फिरते हैं।

इच्छति शती सहस्त्रं, सहस्त्री लक्षमीहते।
लक्षाऽधिपतस्तथा राज्यं राज्यस्थः स्वर्गमीहते॥
(प0 5/77)

अर्थात् - शताधिप सहस्त्राधिप बनना चाहता है, सहस्त्राधिप लक्षाधिप बनना चाहता है, लक्षाधिप राज्य की कामना करता है और फिर राजा बनकर स्वर्ग को प्राप्त करना चाहता है। जितना-जितना तृष्णा को शान्त करना चाहता है, तृष्णा उतनी ही अधिक बढ़ती है।

इसलिये समझदारी यह है कि जितना जीवन जीने के लिये परमावश्यक है उतना इच्छापूर्ति के लिये पुरुषार्थ करो। दूसरे के ऐश्वर्य को लालच की दृष्टि से मत देखो। जितना तुम्हारा सामर्थ्य है उतना पुरुषार्थ करो, और जितना तुम्हें मिल रहा है, उसमें पूर्ण सन्तुष्ट रहो,

यही जीवन जीने का और गृहस्थ को सुन्दर सुखद बनाने का श्रेष्ठ तरीका है।

(6) अक्षुध्याः = कभी भूखे व अभावग्रस्त मत रहो। वेद का यह सन्देश यशमय, सम्मानमय जीवन जीने के लिए कितना सर्वोत्तम है। आप सांसारिक लोगों के व्यवहार से परिचित होंगे, उनका स्वभाव है कि वे अभावग्रस्त मनुष्य से व्यवहार रखना तो बहुत दूर, उसके पास बैठना भी पसन्द नहीं करते। यदि आप भी अभावग्रस्त होंगे तो आपसे भी अपना कोई सम्बन्ध बनाना उचित नहीं समझेगा। समाज में प्रतिष्ठा उन लोगों की होती है जो पूर्ण सम्पन्न हैं। अभावग्रस्त लोगों की प्रतिष्ठा न आज है, न कल थी और न कल होगी। आप में अनेकों गुण हों, पर अभावग्रस्त होने से आपकी समाज में प्रतिष्ठा न बन सकेगी। राजा भर्तृहरि ने तो **"सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति"** कहकर सभी गुण धन के अन्तर्गत बताये हैं। उनके अनुसार धनवान् व्यक्ति ही गुण-सम्पन्न माना जाता है, पर निर्धन चाहे कितना भी गुणवान् क्यों न हो, वह गुणवान् नहीं समझा जाता। शायद इसी कारण से आचार्य चाणक्य ने कहा है -

शीलं शौचं क्षान्तिर्दाक्षिण्यं मधुरता कुले जन्म।
न विराजन्ति हि सर्वे वित्तविहीनस्य पुरुषस्य ॥

(पं0 5/2)

अर्थात् - शीलता, पवित्रता, क्षमा, दक्षता, शिष्टता, वाणी का माधुर्य और श्रेष्ठकुल में जन्म लेना आदि सभी गुण निर्धन पुरुष को कभी शोभा नहीं देते, क्योंकि इन गुणों से युक्त होने पर भी धन के अभाव होने पर सामान्यतः गुणों के प्रति किञ्चित् भी आसक्ति नहीं देखी जाती।

इसका फिर अभिप्राय यह हुआ कि अभावग्रस्त होना, निर्धन होना ये सब समाज में अभिशाप माने गये हैं। इसलिये गृहस्थ में जानेवाले पति-पत्नी का परम कर्त्तव्य है कि वह अपने पूर्ण पुरुषार्थ व अध्यवसाय से अपने घर के अभाव को निकालने का पूर्ण प्रयत्न करे। जैसे-जैसे अभाव घर से विदा होता जायेगा, वैसे-वैसे घर में सुख का वातावरण उत्पन्न होता जायेगा।

दूसरी बात ध्यान देने की यह भी है कि जब आपका अभाव दूर हो जाये, तो आप उस अभाव को दूर करनेवाले अध्यवसाय को करना बन्द न कर दें। क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि जिन लोगों ने अपने पुरुषार्थ से अभाव को दूर कर अपने को प्रतिष्ठा के सोपान पर स्थापित किया, उनके बच्चे आलस्य-प्रमाद के कारण उस प्रतिष्ठा को खो देते हैं। इसलिये न तो अभाव पुनः लौटकर हमारे जीवन में आये और न बच्चों के जीवन में, उसके प्रति पूर्ण सजग रहना तथा बच्चों को भी अभाव से दूर होने के लिए संस्कारित करना, ये समझदार गृहस्थी का कर्त्तव्य बन जाता है। इसी कारण से वेद भगवान् आपको बार-बार पुकार कर कह रहा है **'अक्षुध्याः'** कभी भूखे मत रहो, कभी अभाव-ग्रस्त मत रहो।

यहां भूखे रहने का अभिप्राय अपने को अभाव से दूर रहने का सन्देश ही है। यदि आपका घर पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त है और आप

अपने शरीर की शुद्धि के लिए उपवास करते हैं, निराहारी बनकर रहते हैं, तो यह बात प्रतिष्ठा की मानी जायगी। इसके विपरीत आपके घर में भोजनादि पदार्थों का अभाव है, तब आप निराहारी बनकर रहते हैं, तो इससे आपकी प्रतिष्ठा धूल-धूसरित हो जायेगी। इसलिये शारीरिक शुद्धि के लिये आप उपवास करें वह उचित है, परन्तु तब जबकि आपके घर में भोजनादि पदार्थों का किञ्चित् अभाव न हो। अतः प्रत्येक गृहस्थी का कर्त्तव्य है कि वह जीवन में ऐसा पुरुषार्थ करे कि वह तथा उसका परिवार कभी भी भूख व अभाव से ग्रस्त न रहे।

इस **अक्षुध्या** का एक दूसरा पहलू भी है, जो आजकल धनी मनुष्यों के यहां देखा जाता है। वर्त्तमान समय में नई पीढ़ी में यह दोष आपको प्रायः देखने को अवश्य ही मिलेगा। वह दोष यह कि - धन कमाने की दौड़-भाग में वे भोजन करना अपना कर्त्तव्य नहीं समझते। जबकि शास्त्र कहते हैं - **"शतं विहाय भोक्तव्यम्"** सैकड़ों काम छोड़कर भोजन करो। अर्थात् जीवन को सम्यक् चलाने के लिए उचित समय पर उचित भोजन करो। पर वर्त्तमान समय में नई पीढ़ी अपने भोजन के प्रति इतनी उदासीन है कि वह भोजन के समय पर भोजन नहीं करती। आज उचित समय पर सोना और उचित समय पर जागना, दकियानूसी बातें कही जाने लगी हैं। आज यदि कोई पुरातन परम्पराओं को माननेवाला शिष्ट व्यक्ति रात्रि में 9-10 बजे सो जाता है और ब्राह्ममुहूर्त्त में 4-5 बजे जाग जाता है, तो नई पीढ़ी उसका उपहास करती है। क्योंकि आधुनिक सभ्यता के दौर में रात्रि के 1-2 बजे सोना और अगले दिन 10-11 बजे उठना नई पीढ़ी अच्छा मानती है। जिन लोगों की मजबूरी है कि उन्हें रात्रि में व्यापार के निमित्त विदेशों से सम्पर्क करके अपने व्यवसाय को करना है, वे यदि कुछ विलम्ब से सोयें तो शायद अनुचित न माना जाये, पर अधिकांशतः परिवारों में नई पीढ़ी के बच्चे देर से सोना, रात को गप्पें मारना, टी0 बी0 देखना, रात्रि को देर तक पढ़ना और फिर सुबह देर से जागना, और फिर जागते ही दौड़भाग करके जल्दी-जल्दी में तैयार होकर स्कूल या आफिस जाना, और उससे पूर्व भोजन के नाम पर ब्रैड, चाय, बिस्कुट आदि अथवा जंकफूड आदि लेना, यह कार्य अगर देखा जाये, तो भोजन के प्रति अनास्था ही है। जिसका परिणाम तुरन्त तो नहीं, कुछ काल बाद अवश्य नज़र आने लगता है।

जब भोजन से उचित शक्ति प्राप्त करने का समय था, तब तो धन कमाने की धुन और नींद का आनन्द लेने की इच्छा थी, पर जब शरीर ने जवाब देना शुरू कर दिया, तो फिर उस कमाये हुए धन से आज की पीढ़ी स्वास्थ्य प्राप्त करना चाहती है, पर ऐसा नहीं होता। अगर धन से स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता, तो आज सभी धनवान् व्यक्ति स्वस्थ होने चाहिये। जबकि देखा यह जाता है कि धनवान् व्यक्ति सबसे अधिक रोगग्रस्त हैं। ऐसा क्यों ? इसका सीधा उत्तर है कि धन अर्जन करने में शरीर के संतुलित भोजन तथा व्यायामादि कार्य करने की उपेक्षा, धन प्राप्त करने के बाद शरीर के प्रतिकूल भोजन ग्रहण

करने की इच्छा; ये दोनों बातें जीवन के लिए अत्यन्त घातक हैं। इसलिये समझदार गृहस्थी को चाहिये कि वह जहां अपने परिवार से अभाव को दूर करने का प्रयत्न करे, परिजनों के लिए पूर्ण भोजन की व्यवस्था करे, वहां उसका स्वयं भी कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रति क्या-क्या जिम्मेदारियां हैं, उनके प्रति भी सजग रहे। यदि जीवन में इस प्रकार सजगता का भाव रहा, तो फिर आप स्वयं सुखी बनकर परिवार, समाज को सुखी कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

(7) मा विभीतन =प्रस्तुत मन्त्र का अन्तिम शब्द है - मा विभीतन = मत डरो। बात स्पष्ट है कि डरता वह है जिसने पाप कर्म किया हो, जिसने अपनी आत्मा के विपरीत कर्म किया हो। क्योंकि महर्षि दयानन्द सरस्वती जी के अनुसार अन्तःकरण में व्यापा हुआ परमात्मा सविता= प्रेरक बनकर हमें सत्कर्मों के करने की तथा असत्कर्मों से दूर रहने की प्ररेणा देता है। इसका सीधा-सा लक्षण यह है कि जब किसी कार्य के प्रारम्भ में मन के अन्दर भय-शङ्का-लज्जा आदि भाव उत्पन्न हों, तो वह बुरा कर्म है, और इसके विपरीत जिस कार्य में हर्ष-उत्साह-प्रसन्नता आदि भाव उत्पन्न हों, वह श्रेष्ठकर्म कहलाता है। यदि मनुष्य अन्तरात्मा के अनुकूल कर्म करने का अभ्यास कर ले, तो फिर वह कभी पाप कर्म नहीं कर सकता। जब पाप कर्म नहीं होगा, तो फिर भय कहां उत्पन्न होगा। भय तभी उत्पन्न होता है, जब हम पाप कर्म करते हैं। बच्चा जब किसी प्रकार का ग़लत कार्य करता है, तो छिपकर करता है, और ये चाहता है कि मेरे माता-पिता को इसका पता न लगे, यदि पता लग गया तो वे मुझे अवश्य दण्डित करेंगे। इसी प्रकार पाप कर्म करनेवाला चाहता है कि मैं पाप करते हुए कभी नज़रों में न आऊं, छिपकर पाप करूं और पाप का परिणाम दुःख भी मुझे न प्राप्त हो। यह भाव परमात्मा के विधान के विपरीत है। क्योंकि वह परमात्मा सहस्राक्ष है, बिना शरीरवाला होते हुए भी असंख्यों आंखों से देखनेवाला है, तो फिर पाप करनेवाला मनुष्य कैसे बच सकता है ?

यदि उसके दण्ड-विधान से बचना चाहते हो, तो उसका एक ही प्रकार है कि - आप पाप कर्म कभी न करें, सदैव पुण्य के कर्म करें, धर्म व सत्य के मार्ग पर चलें। तभी तो वेद में कहा है -

अवं मा पाप्मन् सृज वशी सन् मृडयासि नः।
आ मां भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविंहुतम् ॥

(अथ0 6/26/1)

हे पाप ! तू अब मुझे छोड़ दे। तूने मुझे बहुत देर तक अपने वश में रखा, अब तो मेरा तुझे वश में करने का समय आ गया है। तेरे वशीभूत होकर मैंने बहुत दुःख पाये,अब तो मेरा सुख पाने का समय आ गया है। हे पाप ! तुझ से पाये दुःख ही अब मेरे कल्याण का कारण बन जायें। यह तो ईश्वरीय नियम है कि दुःख के बाद सुख ही आते हैं, और इसी प्रकार पाप की प्रतिक्रिया में पुण्य का प्रादुर्भाव होता है। अब तो उस प्रतिक्रिया का समय आ गया है।

सत्य व धर्म के मार्ग पर चलनेवाले मनुष्य के लिये यह तो हो सकता है कि संसार के दुष्टजन अनेकों विघ्न-बाधायें उपस्थित कर दें,

परन्तु जो विघ्न-बाधाओं की चिन्ता न कर धर्म के मार्ग पर चलते रहते हैं तो अन्त में धर्मी सत्यवादी की सदा विजय ही होती है। तभी तो कहा है - **"सत्यमेव जयते"** सत्य की सदा विजय होती है। जो व्यक्ति सत्य के मार्ग पर चलते हैं, उनकी रक्षा परमात्मा अवश्य करते हैं। क्योंकि परमात्मा का मुख्य नाम **ओ३म्** है, और ओ३म् का स्पष्ट अर्थ है - **रक्षा करनेवाला।** इसलिये सत्यवादी, धार्मिक व्यक्ति संसार के लोगों से अपनी रक्षा की प्रार्थना न कर, केवल सर्वान्तर्यामिन् अखण्ड अजर परमेश्वर से ही रक्षा की प्रार्थना करते हुए यही कहते हैं -

ओ३म् अभयं मित्रादभयममित्रा-दभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ (अथ0 19/15/6)

अर्थात् - हे परमात्मन्! हमारी मित्रों से, अमित्रों से, सामने से, पीछे से, रात से, दिन से निरन्तर रक्षा करते हुए ऐसी कृपा करो कि इस ब्रह्माण्ड की सभी दिशाओं के प्राणी मेरे मित्र बन जायें और मुझको प्रेम की दृष्टि से देखें।

याद रखो, जब परमात्मा को हम अपना रक्षक मान लेते हैं, तो फिर परमात्मा सब प्रकार से हमारी रक्षा करता ही है। महर्षि दयानन्द जी से एक अंग्रेज अधिकारी ने कहा - महाराज ! आप अपने धर्म का जब प्रचार करते हैं, तो कई बार आप कठोर बातें भी कह देते हैं, जिससे आपके अनेकों शत्रु बन जाते हैं। यदि आप आज्ञा दें तो आपके जीवन की रक्षा के लिये मैं कुछ सेवक आपकी सेवा में नियुक्त कर दूं। उस अंग्रेज अधिकारी के इस प्रस्ताव को सुनकर महर्षि ने कहा - आपको मेरे जीवन की रक्षा के लिए किसी रक्षक को नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि मेरा रक्षक सदा मेरे साथ ही है। महर्षि के उत्तर को सुनकर आश्चर्यचकित भाव से उस अंग्रेज अधिकारी ने कहा - महाराज ! मैंने तो आपके रक्षक को आज तक नहीं देखा है, जबकि आप कहते हैं कि रक्षक मेरे साथ है। इस पर महर्षि उत्तर देते हैं कि- मेरा रक्षक सर्वव्यापक परमात्मा जब रक्षा करने के लिये दिन-रात मेरे साथ है, तो फिर मुझे सांसारिक रक्षकों को लेने की क्या आवश्यकता? महर्षि के इस उत्तर को सुनकर और परमात्मा के प्रति अगाध श्रद्धा-भावना को देखकर वह अंग्रेज अधिकारी आगे कुछ भी न कह सका। इसीलिये वेदमन्त्र कहता है कि - जब तुमने पिताओं के पिता, रक्षकों के रक्षक, परमात्मा को अपना रक्षक मान लिया और उसके आदेश वेदभगवान् के अनुसार श्रेष्ठ कर्म करने का संकल्प कर लिया, तो फिर डर किस बात का ? संसार के शत्रु तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते, क्योंकि सर्वरक्षक परमात्मा हर क्षण हमारे साथ है और हमारे जीवन की निरन्तर रक्षा कर रहा है।

प्रस्तुत मन्त्र में सद्गृहस्थी बनने के लिए जिस बात का वेद ने संकेत किया है, यदि सभी गृहस्थी उन गुणों को धारणकर, अपने जीवन को चलाने का प्रयत्न करें, तो यह सुनिश्चित है कि इन सद्गुणों से आपका तथा आपके परिवार का जीवन अवश्य सुखद बनेगा, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं।

❑

जीवन में धर्म का महत्त्व

आचार्य करणसिंह शास्त्री
नोएडा (उत्तर प्रदेश)

हमारे प्राचीन शास्त्रों में सर्वदा धन की अपेक्षा धर्म को महत्त्व प्रदान किया गया है। धर्म शब्द **'धृ'** धातु से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है – धारण करना। अर्थात् सीधा संकेत होता है कि ऐसे गुण जिनके धारण करने से मानवता आती हो, वह धर्म है। या जिन गुणों के धारण किये रहने से मनुष्य के सदैव मानवीय मूल्य सुरक्षित हों, और समाज स्थिरता को प्राप्त कर सके, उन सभी गुणों का नाम धर्म कहा जा सकता है। शास्त्रों में हम दो शब्दों को महत्त्व प्रदान करते हैं- एक **धर्म**, दूसरा **नीति**। धर्म शब्द विस्तृज्ञ है और नीति शब्द अल्पज्ञ है। धर्म सभी के धारण करने योग्य है, नीति सभी की भिन्न-भिन्न होती है, इस कारण से भी धर्म का महत्त्व अधिक बढ़ जाता है। धर्म का स्वरूप जो शास्त्रों में दर्शाया गया है, स्वर्ग का द्वार खोलना है। महाभारत में कहा गया है कि धनी व्यक्ति के लिये स्वर्ग का द्वार सदा बन्द रहता है। महर्षि मनु ने भी कहा है कि धनी और कामी व्यक्ति धर्म को कदापि नहीं जान सकते। महर्षि मनु ने धर्म और धार्मिक होने के लिये दस प्रकार की पहचान बताई हैं-

धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

(मनु0 6/92)

यही वे दस गुण हैं जो मनुष्यों को शाश्वत धर्ममय बनाए रखते हैं। ये दस गुण ऐसी पहचान हैं जो इन्हें धारण करेगा, वही धार्मिक और जो न धारण करेगा वह अधार्मिक तथा जब तक धारण करेगा, तब तक धार्मिक, जब धारण करना छोड़ देगा तभी से अधार्मिक माना जायेगा।

आचार्य विश्वबन्धु जी के अनुसार मानव जीवन सदा धर्म पर आधारित होना चाहिये। धर्म ही सब प्रकार के न्याय संगत मानव विकास की सच्ची जड़ है, जिसका विधिवत् सिंचन् करते रहने से जीवन में सब प्रकार का सुधार पुष्पित और पल्लवित होता रहता है। धनी व्यक्ति के लिए स्वर्ग का द्वार इस कारण से बन्द रहता है, क्योंकि उसकी कामनाएं उसे अधर्मी बना देती हैं। कामनाओं का दमन तो हो सकता है, पर वह अस्थायी होता है। समय पाकर वे पुनः जाग्रत हो जाती हैं। अतः कामनाओं का दमन करने के स्थान पर उनका परिष्कार किया जाना चाहिए। कामनाओं का परिष्कार व्यक्ति के अपने शुद्ध धार्मिक जीवन द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

प्राचीन संस्कृत साहित्य में धर्म शब्द कर्म का ही पर्याय है। मीमांसा-दर्शन का प्रसिद्ध सूत्र है-

अथातो धर्म जिज्ञासा॥

इस सूत्र द्वारा वेद प्रतिपादित यज्ञ-क्षेत्रीय कर्त्तव्य-कर्मों एवं उनसे सम्बन्धित बातों की व्याख्या की गई है। इससे ज्ञात हो जाता है कि उक्त सूत्र में कथित 'धर्म' शब्द 'कर्त्तव्य-कर्म' का ही पर्याय है। महाभारत के यक्ष सम्वाद में युधिष्ठिर से यक्ष ने पूछा - **धर्मं किं प्रोक्तम् ?** उत्तर में युधिष्ठिर ने यही कहा था कि **'स्वकर्म वर्तित्वम् धर्मः'** अपने कर्त्तव्य का विधिपूर्वक पालन करते रहना ही धर्म है।

तैत्तिरीय आरण्यक के **'पुरुषो वाव यज्ञः'** वचन द्वारा समस्त मानव-जीवन का ही आलंकारिक रूप यज्ञ के रूप में वर्णन किया गया है। अर्थात् मनुष्य के लिये जिन कर्म-स्वरूप, आचार-व्यवहारों का पालन करना आवश्यक है, उसे मनुष्य का धर्म कहा जाता है।

श्रीमद् भगवत्गीता के **'स्थित-प्रज्ञ'** नामक प्रकरण में जब अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से पूछते हैं कि - वह कैसे सोए, कैसे उठे और कैसे बोले ? तो भगवान् श्रीकृष्ण ने जो आगे उपदेश दिया है उसका सारा भाव कर्त्तव्य-कर्म रूपी धर्म का पालन करने का ही है। केवल मन्दिर में जाना, पूजा-पाठ करना एवं सत्सङ्ग में सम्मिलित होना सच्चे धार्मिक जीवन के निर्माण करने के लिए पर्याप्त नहीं है। यह तो धार्मिक-जीवन की ओर परिवर्तन करने की प्रथम सीढ़ी मात्र है। इसलिए पूजा-पाठ, सन्ध्या हवन-यज्ञ, दान आदि जो भी कर्मकाण्ड हैं, वह सब सद्धर्म की ओर जानेवाले मार्ग का प्रथम पड़ाव ही है। जबकि प्रायः समाज में यह देखा जाता है कि ये सब कर्मकाण्ड करनेवाला व्यक्ति अपने-आपको पूर्ण धर्मात्मा समझने लगता है। यही उसका मिथ्याज्ञान और अभिमान ही है। यह तो केवल प्रथम पड़ाव ही है। यह धर्म का स्वरूप तभी सफल हो सकता है, जब व्यक्ति अपना आचार-व्यवहार भी धर्म के अनुरूप ही कर्त्तव्य के अनुसार बनावे।

आचार-व्यवहार के क्षेत्र में हिंसा की भावना हमें शान्ति से दूर रखती है। इस कारण महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने चिन्तन अनुभव से यह निष्कर्ष दिया है कि - विविध धार्मिक आचार-व्यवहार के अन्तर्गत हिंसावृत्ति को त्यागना और अहिंसावृत्ति को अपनाना ही धर्म है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द जी ने धर्म के दस लक्षणों में यम (अहिंसा) को जोड़ा और **'एकादश धर्म लक्षणम्'** का उपदेश दिया। इस प्रकार कुछ मनुष्य ऐसे सत्पुरुष होते हैं कि जो अपना स्वार्थ का परित्याग करके भी परहित करने में लगे रहते हैं। कुछ मनुष्य इस प्रकार के होते हैं, जो अपने स्वार्थ को हानि पहुंचाये बिना परहित के लिए पुरुषार्थशील होते हैं। जबकि कुछ मनुष्य इस प्रकार की राक्षसीवृत्ति वाले होते हैं कि जो अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिये परहित का हानि पहुंचाने में कोई कसर बाकी नहीं रखते। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी नीच वृत्तिवाले मनुष्य होते हैं, जो कि अपना भी कुछ सिद्ध नहीं कर पाते, पर दूसरों को भी हानि पहुंचाने से नहीं हटते।

अतः कहा ही है कि **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'** हर मनुष्य

को यह सावधानी रखनी चाहिए कि जो व्यवहार अपने लिये ठीक नहीं है, ऐसा व्यवहार दूसरों के साथ भी नहीं करना चाहिये। जो व्यक्ति अपना आचार-व्यवहार ऐसा रखता है, उसे सच्चा मानव कहना चाहिये। धर्म की यह मांग है कि मन, वचन, कर्म के द्वारा सभी का भला ही किया जाना चाहिये। किसी का बुरा न सोचा जाय। ऐसे धर्माचरण का श्रीगणेश प्रथम अपने आप व अपने घर से ही करना चाहिये। हम धार्मिक वातावरण बनाकर रखखें जिससे कि हमें सच्ची शान्ति प्राप्त हो सके। हमारा ऐसा व्यवहार होना चाहिए कि दुष्ट व्यक्ति भी हमारे सम्पर्क में आकर सुधर जाय। महर्षि वेदव्यास जी कहते हैं कि - जो पुरुष सब लोगों को अपने जैसा समझनेवाला हो जाता है, क्रोध को अपने वश में किये रहता है एवं किसी के भी प्रति क्रूरता का व्यवहार नहीं करता, वह सदा धार्मिक बना रहता है और सुखी रहता है। अतः हमें सदा अपनी आत्मपरीक्षा करते रहना चाहिये कि कहीं हमारे अन्तःकरण के किसी कोने में दूसरों को हानि पहुंचाने का भाव तो नहीं पनप रहा ?

जिन मनुष्यों का इस प्रकार की अहिंसा वृत्ति धारण करने का प्रयास सफल हो जाता है, उन्हें ही धार्मिक सज्जन सन्त कहना चाहिये। अतः उचित ही कहा है -

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं जीवितयौवनम्।
चलाऽचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः ॥

(वैराग्य 119)

संसार में धन, प्राण, जीवन, यौवन सब चलायमान हैं, केवल धर्म ही निश्चल है। ❑

जाग उठा यह देश महान्

(राधेश्याम आर्य)

जाग उठा यह देश महान्।
जाग उठा यह देश महान् ॥

स्वर्णिम रश्मि उषा की आती,
जग में जागी नयी प्रभाती।
आज दिशायें आलोकित-सी,
मृदु संगीत सौम्य है गाती।
नवोन्मेष हो रहा धरणि पर
गूंज रहा है मङ्गल-गान,
जाग उठा यह देश महान् ॥ 1 ॥

नूतन युग ने ली अंगड़ाई
जागृत हुई नयी तरुणाई
नव विहान की शुभ्र घड़ी में
हमने जागृति ज्योति जगाई
युवा शक्ति है निर्भय होकर
थाम रही कर्त्तव्य कमान
जाग रहा यह देश महान् ॥ 2 ॥

आती नभ से प्रगति प्रतिध्वनि
कण-कण से समस्वरता की ध्वनि
चमक रही है आशाओं की
भारत में नव स्वर्णिम-सी मणि
गौरव-गरिमा का भारत की
भू पर नहीं, कहीं उपमान
जाग उठा यह देश महान् ॥ 3 ॥ ❑

"धैर्य" - एक वैज्ञानिक विवेचन

आचार्य चन्द्रशेखर शास्त्री
विकासपुरी (दिल्ली)

'धृतिः' शब्द **'धृ धारणे'** धातु से बना है। इसी धातु से धर्म बना है। धर्म का अर्थ है - जो धारण करे। परमात्मा संसार को धारण कर रहा है। हमारी आत्मा, हमारे शरीर को धारण कर रही है, अतः धर्म का अर्थ आत्मा तथा परमात्मा को पाना है। धैर्य का अर्थ है किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए अपने में पात्रता पैदा करना और फल की प्रतीक्षा करना। पात्रता पैदा किये बिना फल चाहना जल्दबाजी है, अधैर्य है।

धैर्यपूर्वक कार्य करने से आत्मा से सम्बन्ध जुड़ता है। शक्ति अधिक व्यय नहीं होती, कार्य सही होता है और जीवन का हम अधिक लाभ उठा सकते हैं। खरगोश और कछुए की कहानी प्रसिद्ध है। खरगोश तेजी से दौड़ा, परन्तु बीच में सो गया, अतः लक्ष्य तक देर में पहुँच सका। कछुआ धीरे-धीरे चलता रहा, रुका नहीं, इसलिए लक्ष्य पर पहले पहुँच गया। जल्दबाजी करने से हमारा सम्बन्ध आत्मा से टूटकर मन के साथ हो जाता है। मानो आकाश में बादल छा गये। चेतना का स्तर निम्न होने से काम ग़लत होता है, और अधूरा रह जाता है। जल्दबाजी से शक्ति अधिक व्यय होती है और आयु घटती है। पेड़-पौधों में भी यह बात देखी जाती है।

केला और पपीता के वृक्षों में फल जल्दी लगते हैं, परन्तु इनकी आयु तीन या चार साल की होती है। आम के वृक्ष देर से फल देते हैं। पीपल और बरगद के वृक्षों के नीचे बैठना आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ा लाभप्रद है। संस्कृत के एक श्लोक में कहा गया है कि - विपत्ति में धैर्य रखना चाहिए। धैर्य केवल विपत्ति में ही नहीं, किन्तु जीवन की प्रत्येक साधारण घटना में भी होना चाहिए। जैसे - स्नान करना, भोजन करना, गाड़ी में चढ़ना-उतरना आदि।

आज का जीवन अधैर्य का है। मनुष्य अपनी सन्तान का विवाह जल्दी करना चाहता है। एक बार विवाह संस्कार के अवसर पर पुरोहित को कहा गया कि विवाह जल्दी करा दो। पुरोहित ने कहा कि - मनुस्मृति में आठ प्रकार के विवाह बताये हैं। उनमें राक्षस विवाह सबसे जल्दी होता है, वह करवा दूँ ? प्राचीनकाल में आठ वर्ष की आयु में बालक को गुरुकुल में शिक्षा के लिए भेजा जाता था। सात वर्ष की आयु तक बच्चे के शरीर का बीजरूप में निर्माण होता है। आयु के पहले सात साल में जो बालक स्वस्थ और प्रसन्न रहेगा, वह जीवनभर स्वस्थ और प्रसन्न रहेगा। आजकल अधैर्य इतना बढ़ गया है कि तीन वर्ष की आयु में ही हम बच्चों को स्कूल भेज देते हैं। इससे बच्चा सारे

जीवन रुग्ण रहता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति में रोग को दूर करने में कुछ समय लगता है। उसमें शरीर का मल बाहर निकाला जाता है, परन्तु ऐलोपैथी में शरीर के मल को बाहर निकालकर नहीं, अपितु वहीं सुखाकर रोगी को तुरन्त ठीक कर दिया जाता है। इससे शरीर में मल संग्रहीत होता रहता है, और दूसरे रोग के रूप में प्रगट होता रहता है।

बसों और रेलगाड़ियों में टिकट लेने और चढ़ने-उतरने में लोग बड़ा असभ्यतापूर्ण व्यवहार और जल्दबाजी करते हैं। द्रुतगामी यानों का विकास जल्दबाजी के कारण हुआ। फ्रांस में एक रेलगाड़ी चलती है, जिसकी गति पांच सौ किलोमीटर प्रति घण्टा है। साहित्य में जल्दबाजी के कारण महाकाव्य की अपेक्षा मुक्तक कविता का महत्त्व बढ़ा। उपन्यास का स्थान कहानी ने ले लिया। हास्यरस के नाटकों की अपेक्षा चुटकुला लोकप्रिय हो गया। यूरोप में चलचित्र सवा या डेढ़ घण्टे से अधिक के नहीं होते। भारतीय चलचित्र कम से कम ढाई घण्टे के होते हैं। राजनीति और युद्ध में भी धैर्यशाली व्यक्ति ही सफल होता है। धार्मिक स्थानों में भी लोग जल्दबाजी में आते हैं, और जल्दबाजी या बेचैनी सत्य के बीच में एक दीवार कर जाती है।

जल्दबाज आदमी कुछ ग्रहण नहीं कर सकता। बुरे काम जल्दबाजी में किये जाते हैं, ताकि किसी को पता न लग जाए, इसलिए कि वे अधर्म हैं। जल्दबाज आदमी विपत्ति में स्तब्ध खड़ा रह जाता है। उसके भीतर सन्नाटा छा जाता है। उसकी चेतना गहराई में चली जाती है। साधना में हमारे भीतर के पुराने संस्कार उखड़ते हैं। जैसे- कमरे को झाड़ो तो धूल उड़ती है। यदि पुराने संस्कार अधिक संख्या में सामने आ जाएं, तो मनुष्य पागल जैसा भी हो सकता है। इसलिए साधना में धैर्य अत्यन्त आवश्यक है।

मूरख धीरज मत खोए, सहज पके से मीठा होए।
व्याकुलता तज क्यों ना सोए, सहज पके सो मीठा होए॥
माली बीज तो पहले बोता, फल मौसम आने पर होता।
बिन मतलब का बोझा ढोए, सहज पके सो मीठा होए॥
बूंद-बूंद से घट भरता है, लेकिन वक्त लगा करता है।
यह सच है तो फिर क्यों रोए, सहज पके सो मीठा होए॥
नर मेहनत हरदम करता जा, आलस को तज श्रम करता जा।
परिश्रम-जल सबका मन धोए, सहज पके सो मीठा होए॥
निजपथ पर तुम न घबराना, पग-पग अविचल बढ़ते जाना।
पथिक असफल रहा न कोए, सहज पके सो मीठा होए॥

- धैर्य पर चिन्तन -

* शोक में, आर्थिक संकट में या प्राणान्तक भय उपस्थित होने पर जो अपनी बुद्धि से दुःख निवारण के उपाय करते हुए धीरता धारण करता है, उसे कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

* शत्रु का लोहा भले ही गर्म हो जाए, पर हथौड़ा तो ठंडा रहकर ही काम दे सकता है।

* सब्र ज़िन्दगी के मक़सद का दरवाज़ा खोलता है, प्रकृति के चरण-चिह्नों पर चलो, उसका रहस्य है - सब्र, धैर्य।

* धैर्य और परिश्रम से हम वह प्राप्त कर सकते हैं, जो शक्ति और जल्दबाजी से कभी नहीं।

* वे निर्धन हैं, जिनके पास धैर्य नहीं है।

* क्या आज तक कोई जख़्म बिना धैर्य के ठीक हुआ है ?

* धैर्य आशावान् रहने की कला है।

* नीति-निपुण निन्दा करे या प्रशंसा करे, लक्ष्मी आवे चाहे चली जावे, मृत्यु चाहे आज ही हो जाए, चाहे एक युग के पश्चात्, परन्तु धीर पुरुष न्यायमार्ग से एक पग भी विचलित नहीं होते।

* धीरज सारे आनन्द और शक्तियों का मूल है।

* कविरा धीरज के धरे, हाथी मन भर खाए। टूक एक के कारने, स्वान घरै-घर जाए॥

* धैर्य सन्तोष की कुञ्जी है।

* संकट के समय धैर्य धारण करना ही मानो आधी लड़ाई जीत लेना है।

* धैर्य वीरता का अति उत्तम, मूल्यवान् और दुर्लभ अङ्ग है।

* धैर्यपूर्वक कार्य करने से आत्मा से सम्बन्ध जुड़ता है। शक्ति अधिक व्यय नहीं होती, काम सही होता है।

* धैर्य केवल विपत्ति में ही नहीं, किन्तु जीवन की प्रत्येक साधारण घटना में भी होना चाहिए। जैसे - स्नान करना, भोजन करना, गाड़ी में चढ़ना-उतरना।

* धैर्य के बिना सभी मानव शक्तियां अल्पजीवी होती हैं।

* कैसा भी उत्साह-सम्पन्न या साहसी मनुष्य क्यों न हो, यदि उसका धैर्य स्खलित होगा तो वह हताश होकर कहीं न कहीं बैठ जाएगा, विघ्न पड़ने पर कार्यसिद्धि से पूर्व ही कर्मघात कर बैठेगा। इसलिये जीवन के सभी क्षेत्रों में धैर्य सफलतादायक होता है। ❐

* पाँच गोपनीय बातें *

(ऋषिदेव विद्यालङ्कार)

(1) पाप वही है जिससे परिणाम में अपना तथा दूसरों का अहित हो, और पुण्य वही है जिसके परिणाम में अपना तथा दूसरों का हित हो। अतः सदा परहित में ही अपना यथार्थ हित समझकर उसी में प्रवृत्त रहना चाहिये।

(2) संसार में अर्थ के पीछे पाग़ल मत बनो। जो लोग अर्थ के पीछे पाग़ल होते हैं, वे अधर्म को तथा संसार को महान् हानि पहुंचाते हैं। आज का भ्रष्टाचार, घूंसखोरी, चोरबाजारी, मिलावट आदि सब भीषण अर्थ-पिपासा के परिणाम हैं। कल्याण चाहनेवाले पुरुष को चाहिए कि वह धर्म में आसक्ति न रखे।

(3) जो मानव परस्पर वैर-विरोध रखते हैं, वे सदा मानस-हिंसा का पोषण करते हैं, प्रतिशोध की भावना रखते हैं। मनुष्य को चाहिये कि वह किसी भी प्राणी से द्वेष या वैरभाव न रखें।

(4) जो मनुष्य दूसरे जीवों को मारकर उनका मांस खाता है, उसकी मानवता नष्ट हो जाती है। मांस-भक्षण राक्षसपन है। उसमें मानवता नहीं है।

(5) मानव शरीर प्राप्त करके भी जो केवल पशु अथवा असुर की भांति भोगों में ही रचा-पचा रहता है, वह अमृत खोकर बदले में विष लेता है। ❐

सदाचार ही धर्म है

पं० दादूराम शर्मा
एम० ए०, संस्कृत-हिन्दी

महाभारत में धर्म की परिभाषा इस प्रकार की गई है –

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः ॥

अर्थात् – ऋषियों ने धारण गुण के कारण 'धर्म' कहा है, धर्म प्रजा को धारण करता है। धर्म को धारण करनेवाला व्यक्ति 'धार्मिक' कहलायेगा, जिसका अर्थ है आचारवान्, सदाचारी। कोई व्यक्ति धार्मिक है या नहीं, इसकी परख उसके आचरण को देखकर ही होती है। धर्म आन्तरिक रूप से मानव की मूल प्रवृत्तियों – **आहार, निद्रा, भय, मैथुन, स्वार्थपरता** आदि को संयमित करता है और बाह्यरूप से मानव के आत्म-कल्याण और जन-कल्याणकारी कर्मों के रूप में प्रस्फुटित होता है। वह उसे मनुष्यत्त्व से देवत्त्व की ओर ले जाता है, सदाचार पर आरूढ़ कराता है। यह ऐसा दिव्य प्रकाश-पुञ्ज है, जो तिमिराच्छन्न जन-मानस को आलोकित कर देता है। ऐसे दिव्य प्रकाश से परिपूर्ण व्यक्ति के सम्पर्क में जो भी आता है, उसका आन्तर भी उस दिव्य-प्रकाश से जगमगा उठता है।

रामचरितमानस में भगवान् श्रीराम ने जिस धर्मरथ की बात कही है, वह शौर्य-धैर्य आदि सद्वृत्तियों का ऐसा जाज्वल्यमान पुञ्ज है, जो मानवीय व्यक्तित्व को काल के लिये भी दुर्जेय किंवा अमर बना देता है। वस्तुतः मानव का आचरण ही धार्मिकता की कसौटी है। ऋषि कुलोत्पन्न वेदविद् रावण 'राक्षस' कहलाया, और दस्युवृत्तिजीवी बाल्मीकि सदाचरण से 'महर्षि' हो गये। एक ने सत् का असत् से अवसान किया और दूसरे ने असत् को सत् में संस्कारित कर लिया।

धर्म का लक्ष्य है – मानव में शिवत्त्व का विकास। मनुष्य प्रकृत्या पशु है। पशुओं की तरह उसमें भी बलवती मूल स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं। किन्तु पशु 'अज्ञ' है, वह मूल प्रवृत्तियों द्वारा प्रेरित होता है, जबकि मनुष्य सज्ञान है, वह अपनी मूल प्रवृत्तियों को स्वयं प्रेरित करता है। उसकी सहजात मूल प्रवृत्तियों को प्रेरित करने की यह क्षमता ही उसे पशुत्त्व की कोटि से भी नीचे गिरा देती है। इसलिये मनुष्य रूपी इस मतङ्गज को वश में करने के लिये, उसे समाज सापेक्ष श्रेय और प्रेय से मण्डित करने के लिये, उसमें समाज कल्याणकारी आत्माभ्युदय की सत्प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिये अथवा यों कहिये कि मूल प्रवृत्तियों को नियमित एवं व्यवस्थित करने के लिये धर्म एक तीक्ष्ण अंकुश है। व्यष्टि और समष्टि का समन्वित भौतिक और आध्यात्मिक अभ्युत्थान ही धर्म का लक्ष्य है, और इसका साधन **सदाचार** है।

धर्म का मूल त्याग है। उसका लक्ष्य व्यष्टि और समष्टि का समन्वित कल्याण साधना है। यही धर्म का व्यावहारिक स्वरूप है। निर्दोषों के उत्पीडन और व्यक्तिगत स्वार्थों से भरा हुआ धर्म, धर्म नहीं धर्माभास है, अधर्म है।

भौतिकवाद और धर्म -

इन्द्रियलोलुपता या विषयानुरक्ति और उसके लिये येन-केन-प्रकारेण अर्थोपार्जन करना ही भौतिकवाद है। हाड़-चाम के इस शरीर को और इससे प्राप्त ऐन्द्रिय-सुख को ही सर्वस्व माननेवाला मनुष्य जब सदाचार के सारे बन्धनों को उच्छृंखलता और अविवेक द्वारा तोड़कर फैंक देता है, तभी भौतिकवाद का जन्म होता है।

गीता के सोलहवें अध्याय में छठे श्लोक से लेकर बीसवें श्लोक तक इसे 'आसुरी सम्पत्ति' कहा है।

भौतिकवादी संसार के संस्पर्शज सुखों को ही सर्वस्व मान लेता है, उनकी क्षणिकता को भूल जाता है। उनकी प्राप्ति के साधन अर्थ (धन) के उपार्जन में ही अहर्निश लगा रहता है। श्रीमद्भागवत में ऐसे भौतिकवादी संसार के प्रति खेद व्यक्त किया गया है -

लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टि-
र्योऽर्थान् समीहेन निकामकामः।
अन्योऽन्यवैरः सुखलेश हेतोः
अनन्तदुःखं च न वेद मूढः॥

(भाग0 5/5/16)

गीता के अनुसार विषयों की पूर्ति का प्रयास करना आत्मावसादन है। इसलिये आत्मोद्धार के लिये सदाचार का वरण करना परम आवश्यक है। सदाचार विषय भोगेच्छा को नियन्त्रित करता है। उसकी दिशा भगवत् प्राप्ति की दिशा है।

शुद्धोधन, सिद्धार्थ को सांसारिक सुखों में निरत रखने के लिये विविध चेष्टाएं करते हैं। संसार में जो कुछ आनन्ददायक है, उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था उनके लिये की जाती है। संसार के दूसरे पक्ष से, जो वास्तविक है - दुःखों से भरा है, उन्हें अनभिज्ञ रखा जाता है। मेघ का लघुखण्ड सूर्य की धूप को भले ही कुछ दूर तक रोक ले, किन्तु उसके प्रकाश को भूतल पर आने से भला क्या वह रोक सकता है ? उन्होंने चार विहार-यात्राओं में संसार की वास्तविकता, उसके द्वितीय पक्ष शाश्वत दुःखावस्थिति के दर्शन किये, और उनका मन अस्थिर सांसारिक सुखों के प्रति वितृष्णा से भर गया। उन्होंने अपने पिता से कहा -

"यदि आप मेरी निम्नलिखित मांगें पूरी कर सकते हैं, तो मैं भी सांसारिक भोगवादी बन सकता हूं -

न भवेन्नमरणं जीवितं मे विरहेत्
स्वास्थ्यमिदं च मे न रोगः।
न यौवनमाक्षिपेजरा मे न च
सम्पत्तिमिमां हरेद् विपत्तिः॥

(बुद्धचरित्र)

अर्थात् - मैं कभी न मरूं, रोग मेरे स्वास्थ्य को नष्ट न करें, बुढ़ापा मेरी जवानी को आक्रान्त न करे और मेरी सम्पत्तियों का अवसान विपत्तियों में भी न हो।

प्रत्येक सद्विचारक के सामने चार प्रश्न हैं - **(1) मृत्यु (2) व्याधि (3) जरा** [बुढ़ापा] और **(4) नानाविध विपत्तियां।** ये अपरिहार्य हैं। उनसे बचा नहीं जा सकता। निरन्तर पुष्ट किये जानेवाले इस स्थूल शरीर को नानाविध क्लेशों, व्याधियों, जरा और मृत्यु से कौन सुरक्षित रख सकता है ? नन्दिनी गौ के बदले में अपना शरीर समर्पित करनेवाले महाराज दिलीप से सिंह सुतरां कहता है -

"एकच्छत्र संसार का स्वामित्व, यौवन और सुन्दर शरीर, इन सबको इस तुच्छ गौ के लिये त्याग करनेवाले दिलीप ! तुम कितने मूर्ख हो।" (रघुवंश 2/47)

राजा ने उत्तर दिया - **"यह भौतिक पिण्ड या स्थूल शरीर ही सब कुछ नहीं, अपितु मनुष्य के लिये धर्म-परिपुष्ट यशःशरीर ही सब कुछ है। इसलिये तुम मेरे यशःशरीर पर दया करो। इस पर हम जैसे मनीषियों की आस्था या ममता नहीं हुआ करती। इसलिये इसे खाकर तुम अपनी बुभुक्षा-पशुसुलभवृत्ति को सन्तुष्ट करो।"** (रघुवंश 2/57)

सिंह में पशुसुलभ इन्द्रिय परायणता है। वह मानव-सुलभ त्याग और बलिदान की प्रधानता से समन्वित दिलीप के तेज के आगे नतमस्तक हो जाता है। यही पशुत्व पर मानवता की विजय है, और यही धर्म का जयघोष है।

जो अपने स्वार्थों से बहुत ऊपर उठ चुके हों, लोक संग्रह या लोकमङ्गल ही जिनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य हो, जिनमें शील और सदाचार अपनी चरम अवस्था में पहुंच चुका हो, जिनकी मनोमुग्धकारी अन्तर्बाह्य सुन्दरता खर-दूषण जैसे समाजोत्पीडकों के मन में भी प्रेम और मानवता का उद्रेक करने की क्षमता रखती हो, जिनकी परिपुष्ट भुजाएं सदैव निर्बलों की रक्षा और आततायियों के विनाश में शस्त्र-सज्जित हों, वे ही महामानव माने गये हैं। ऐसे ही श्रीराम लोकाराधन के लिये सर्वस्व त्यागने को कृतसंकल्प हैं -

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनायलोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

(उत्तर रामचरितम् 1/12)

श्रीराम धर्म या सदाचार के मूर्तिमान् विग्रह हैं। शील, शक्ति और सौन्दर्य का ऐसा अनोखा समन्वय पहले कभी मानव-जगत् ने नहीं देखा था, वे इसीलिये मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। उनकी राजनीति छल, छद्म से अस्पृष्ट विशुद्ध धर्मनीति थी। इसी का प्रभाव था कि -

सब नर करहिं परस्पर प्रीति।
चलहिं स्वधर्म निरत श्रुतिनीती॥
सब निर्दम्भ धर्म रत पुनी॥

(मानस 7/20, 41/4)

इसप्रकार कर्मनिष्ठ व्यक्ति सदा सदाचार परायण रहकर लोकमङ्गल करते रहते हैं।

अतः धर्म और सदाचार परस्पर साधक हैं। तभी तो **"आचार-प्रभवो-धर्मः"** और **"सदाचारः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्"** कहा गया है। ❐

धर्म नियन्त्रित राजनीति ही श्रेयस्कर है

डॉ0 शिवकुमार गोयल
एम0 ए0, पी0 एच0 डी0

जो धर्मप्राण भारत कभी पूरे संसार में अपने देश की महान् संस्कृति, धर्मशास्त्रों के शाश्वत सिद्धान्तों, यहां के ऋषि-मुनियों की दिव्यातिदिव्य अनुभूतियों तथा महान् राष्ट्र-पुरुषों के समर्पण भाव की घटनाओं के कारण 'जगद्गुरू' के रूप में विख्यात था, आज वही भारत राजनीति से लेकर सामाजिक संगठनों तक में व्याप्त भ्रष्टाचार, घोर अनैतिकता, अराजकता, आतंकवाद, अलगाववाद के कारण पूरे संसार में चर्चित होता है। ऐसी स्थिति में देश के प्राचीन संस्कृति के भक्त, बुद्धिजीवियों के हृदय को पीड़ा होना स्वाभाविक है। जब-जब पत्र-पत्रिकाओं में तंदूरकाण्ड, सामूहिक बलात्कार काण्ड आदि की शर्मनाक घटनाएं समाचार-पत्रों में छपती हैं तो मारीशस के एक प्रवासी भारतीय मित्र ने मुझे लिखा -

'हमारे पूर्वजों के, ऋषि-मुनियों के देश को, धर्मप्राण भारत को यह क्या ग्रहण लग गया है ? नारियों की पूजा एवं सम्मान की प्रेरणा देनेवाले हमारे पूर्वजों के धर्मप्राण देश में जब इस प्रकार की घटनाएं होती हैं, तो हम प्रवासी भारतीयों का सिर शर्म से झुक जाता है।'

अपने मित्र के पत्र में उनके हृदय की पीड़ा की अनुभूति कर, मैं स्वयं इस बात के चिन्तन के लिये मजबूर हो जाता हूं कि भारत के इस अधःपतन का असली कारण क्या हो सकता है ?

भारत धर्मप्राण देश है। हमारे धर्मशास्त्र, वेद, उपनिषद्, महाभारत, श्रीमद् भगवत्गीता, पुराण आदि सदा से नागरिकों को उनके कर्त्तव्य, नैतिकता की प्रेरणा देते रहे हैं। धर्मशास्त्रों का कहना है -

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात्धर्मस्य लक्षणम् ॥

(मनुस्मृति 2/12)

अर्थात् - वेद, स्मृति एवं सत्पुरुषों का आचार तथा जिसके कारण आत्मा को सहज सन्तोष, प्रसन्नता की अनुभूति हो, वह आत्मप्रिय परोपकार आदि - ये धर्म के साक्षात् फल कहे गये हैं।

धर्मशास्त्र ही हमें मानवता, परोपकार, निष्काम-सेवा, राष्ट्र के प्रति समर्पण, ईमानदारी, सात्त्विकता आदि की प्रेरणा देते हैं। हमारा अपने माता-पिता, भाई-बहिन और पड़ौसी के प्रति क्या कर्त्तव्य है, ग़रीब एवं असहायों की सेवा कितनी जरूरी है, नारियों के प्रति हमें क्या भावना रखनी चाहिये, यह सब हमें धर्मशास्त्रों से ही पता चलता है। हमारे धर्मशास्त्र ही हमें संकीर्णता से ऊपर उठकर मानवता की सेवा की

प्रेरणा देते रहे हैं। सब में समदर्शी भाव रखनेवाले को पण्डित बताते हुए धर्म-शास्त्रों में कहा गया है -

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

इसी प्रकार **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** पूरे विश्व को अपना परिवार मानने की प्रेरणा धर्मग्रन्थों से ही मिलती है।

प्रत्येक महिला में माता के दर्शन करने तथा दूसरे के धन को मिट्टी के समान मानने की प्रेरणा देनेवाले प्रेरणादायक आदर्श वाक्य - **'मातृवत्परदारेषु'** तथा **'परद्रव्येषु लोष्ठवत्'** हमारे धर्मशास्त्रों में ही मिलते हैं। धर्मशास्त्र पग-पग पर **'आदर्श-मानव'** बनने की प्रेरणा देते रहे हैं।

हमारे सनातन धर्म के किसी भी धर्मशास्त्र में यह नहीं कहा गया कि हमारे अमुक धर्मग्रन्थ को न मानोगे तो काफ़िर करार दिये जाओगे। इसीलिए सनातन वैदिकधर्म के अनुयायी किसी भी शासक ने कभी तलवार या धन के बल पर किसी का धर्मान्तरण नहीं करवाया। हमारे धर्मशास्त्र तो कहते हैं -

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

अपने धर्म में रहकर ही कल्याण सम्भव है। यही प्रेरणा पग-पग पर दी गई है। अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए, राष्ट्र-भक्ति को सर्वोपरि महत्त्व देते हुए, सन्मार्ग पर चलनेवाले हर मानव का कल्याण होता है, यह केवल सनातन वैदिकधर्म ही कहता है।

माता-पिता के प्रति हमारा क्या कर्त्तव्य है, यह हमें 'रामायण' तथा भगवान् श्रीराम के आदर्श चरित्र से पता चलता है। श्रवणकुमार ने अपने माता-पिता की सेवा के बल पर किस प्रकार भगवद् दर्शन प्राप्त किये, यह सर्व विदित है।

हमारे देश में सबेरे उठते ही माता-पिता के चरण-स्पर्श की, उनका आशीर्वाद ग्रहण करने की परम्परा रही है। आधुनिकीकरण के इस भौतिकवादी युग में माता-पिता तथा बड़ों के अभिवादन की परम्परा क्षीणप्रायः हो गयी है। अब तो संयुक्त परिवार टूटने के साथ-साथ वृद्ध मां-बाप को कथित पढ़े-लिखे पुत्र भार तक मानने में नहीं हिचकिचाते।

माता-पिता के यदि दो पुत्र हैं, तो वे एक-दूसरे पर माता-पिता के रहने की जिम्मेदारी डालना चाहते हैं। अनेक वृद्धों को तो पश्चिमी देशों की तरह 'वृद्धाश्रमों' की शरण लेने को बाध्य होना पड़ता है। मां-बाप का नियन्त्रण हट जाने के कारण सन्तति निरंकुश तथा स्वच्छन्द होकर पथ-भ्रष्ट होती चली जा रही है। उसका खानपान बिगड़ रहा है। परिवार में किसी अनुभवी वृद्ध का नियन्त्रण न रहने से अनेक समस्याएं खड़ी होने लगी हैं।

धर्मशास्त्रों में वृद्धों के प्रति सम्मान व्यक्त करने, उनका आशीर्वाद लेने के महत्त्व को निम्न श्लोक में व्यक्त किया गया है -

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम् ॥

नित्यप्रति वृद्धों का अभिवादन करने से मनुष्य की **आयु, विद्या, यश** तथा **बल** की वृद्धि होती है।

आज धर्मशास्त्रों की अवहेलना का ही यह दुष्परिणाम है कि अति भौतिकवाद की चपेट में आये हमारे परिवारों में वृद्ध माता-पिता की पग-पग पर अवहेलना ही नहीं होती, अपितु कुछ अत्याधुनिक कहे जानेवाले परिवारों में तो उनका खुला अपमान तथा उत्पीड़न तक होने लगा है। अनेक वृद्धों को उनकी सन्तान भोजन तक देने को भार मानने लगी है। इससे ज़्यादा शर्मनाक क्या होगा ?

हमारे धर्मशास्त्रों में नारी को पुरुषों से कहीं ऊंचा स्थान दिया गया है। हमारे धर्म में पग-पग पर नारियों की पूजा, उनके सम्मान का, उनके प्रति कर्त्तव्य पालन का स्पष्ट निर्देश दिया गया है। यहां तक कहा गया है -

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ॥

जहां नारियों की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं।

हमारे धर्मशास्त्र आदर्श नारियों के, पतिव्रता महिलाओं के बड़े-बड़े देवी-देवताओं तक के द्वारा आदर पाने की घटनाओं से भरे पड़े हैं। किन्तु जब से हमने धर्मशास्त्रों तथा धर्म के आदेशों की, प्रेरणाओं की अवहेलना की, तभी से समाज में नारियों का उत्पीड़न बढ़ा है। नारी सम्मान की जगह उपभोग की वस्तु बनाने में भौतिकवादी विकृतियों का अन्धानुकरण ही मुख्य कारण है। आधुनिकता तथा पश्चिमी देशों की क्लब-संस्कृति के प्रभाव ने भारत की नारियों की गरिमा को खत्म कर डाला है। दूरदर्शन के भौंड़े कार्यक्रमों ने नारियों के प्रति हमारे दृष्टिकोण को दूषित ही किया है।

धर्म के प्रति घृणा का दुष्प्रचार -

देश का यह घोर दुर्भाग्य रहा है कि देश के स्वाधीन होते ही हमारे पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध के शिकार नेताओं ने 'धर्म' को 'रिलीजन' या मज़हब का पर्यायवाची मान लिया तथा देश को 'धर्मनिरपेक्ष' राष्ट्र घोषित कर दिया गया। 'धर्म-निरपेक्षता' के नाम पर पाठ्य पुस्तकों में से धर्मशास्त्रों तथा इतिहास के प्रेरक अंश हटा दिये गये। कुछ ही दिन बाद देश की कुछ तथाकथित शक्तियों ने बच्चों को पढ़ाई जानेवाली पुस्तक में 'ग' से 'गणेश' पर आपत्ति करते हुए कहा कि - हमारे बच्चे 'गणेश' नहीं पढ़ेंगे। धर्म-निरपेक्षतावादियों ने विवेक को ताक पर रखकर वोटों के लालच में 'गणेश' हटाकर 'ग' से 'गधा' कर दिया, जिसे स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार धर्म-निरपेक्षता की आड़ में हमारे अदूरदर्शी शासकों ने धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा से बच्चों को विमुख कर डाला।

धर्म तथा नैतिक शिक्षा के अभाव में बच्चों का संस्कार-शून्य होते जाना स्वाभाविक ही है। संस्कारहीन युवा पीढ़ी पश्चिमी देशों की विकृति की शिकार होने लगी। 'खाओ पीओ और मौज करो' उसका लक्ष्य होता गया और आज संयुक्त परिवारों का टूटना, समाज में स्वच्छन्द प्रेम तथा प्रेम-विवाहों का प्रचलन बढ़ना और तलाक़ आदि आम बात हो जाना, उसी पाश्चात्य विकृति के दुष्प्रभाव का ही कारण है। वोटों के लालच में हमारे राजनेताओं ने धर्म के प्रति लोगों में घृणा की भावना पैदा करनी शुरू कर दी। शुरू में धर्म-निरपेक्षता शब्द

का प्रयोग कर कहा गया कि – **शासन धर्म के क्षेत्र में किसी से भेद-भाव नहीं करेगा या शासन धर्म के प्रति 'निरपेक्ष' रहेगा।**

बाद में तुष्टिकरण की घातक नीति के कारण हिन्दू-समाज के मान-बिन्दुओं के साथ खिलवाड़ किया जाने लगा, तो हिन्दुओं में आक्रोश व्याप्त हुआ। हिन्दू-समाज के मानबिन्दु गौमाता की हत्या जारी रहने से हिन्दू-समाज का व्यथित होना स्वाभाविक था। परिणामतः हिन्दू-समाज अपने मानबिन्दुओं के सम्मान की रक्षा के लिये संगठित होने लगा। इस संगठन तथा जागृति से आतंकित होकर कुछ राजनीतिक दलों ने राजनीति से धर्म को बिल्कुल अलग रखने की मांग उठानी शुरू कर दी। पिछले वर्षों संसद से राजनीति से धर्म को अलग करने का विधेयक तक लाया गया, किन्तु वह पारित नहीं हो सका। धर्मसम्राट स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रम जी महाराज कहा करते थे –

'धर्म-नियन्त्रित राजनीति ही कल्याणकारी है, जबकि धर्मविहीन राजनीति दुर्नीति बनकर तमाम विकृतियों को जन्म देनेवाली होती है। राजनीति पर धर्म का नियन्त्रण न रहा, तो वह अधर्मी एवं अवाञ्छनीय तत्त्वों का अड्डा बन जायगी।'

आज इनकी भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य सिद्ध होकर सामने आ रही है। राजनीतिक क्षेत्र में आगे रहनेवाले अधिकांश नेतागणों के भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूब रहने के मामले प्रायः प्रकाश में आते रहते हैं। उनके स्वच्छन्द कदाचरण की घटनाएं प्रायः समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं। अब तो संसद में खुलकर **'राजनीति का अपराधीकरण'** होने की बात स्वीकारी जा चुकी है। यह सब धर्म तथा धर्मशास्त्रों की घोर अवहेलना तथा धर्म के पालन की जगह उसके प्रति घृणा फैलाने का ही दुष्परिणाम कहा जा सकता है।

आज नारी उत्पीडन, दहेज-हत्याओं, ग़रीब एवं पिछड़े वर्ग पर अत्याचारों, बात-बात में नृशंस हत्याओं, अपहरणों, बच्चों तक से अमानवीय कुकर्मों जैसी घटनाएं आम बात हो गयी हैं। भाई भी चंद रुपयों तथा भूमि के टुकड़े मात्र के लिये भाई की हत्या करने में नहीं हिचकिचाता।

श्रवणकुमार के देश में भारत धन तथा सम्पत्ति के लिये मां-बाप की हत्या करनेवाले नर-पशुओं की कमी नहीं है। क्षणिक स्वार्थपूर्ति के लिये अपनी मातृभूमि के साथ विश्वासघात करनेवाले, देश की गुप्त सूचनाएं शत्रु देशों को पहुंचानेवाले राष्ट्रद्रोहियों के पकड़े जाने की घटनाएं प्रायः सामने आती रहती हैं। यह सब धर्म तथा धर्मशास्त्रों की अवहेलना का ही दुष्परिणाम कहा जा सकता है। धर्मशास्त्रों पर निष्ठा रखनेवाला कोई भी सच्चा धार्मिक व्यक्ति समाज व राष्ट्र के विरोध में कुछ करने की सोच भी नहीं सकता।

धर्म-नियन्त्रित राजनीति, धर्म-नियन्त्रित समाज तथा धर्म का पालन करनेवाले नागरिक ही **'आदर्श-राष्ट्र'** का **आदर्श** उपस्थित कर सकते हैं। ❑

हे मनुष्य ! तू मन का इकतारा बजा

डॉ0 सुरेशचन्द्र सेठ
एम0 ए0, पी0 एच0 डी0

हमारे घर के निकट से एक 'इकतारा' बेचनेवाला प्रायः निकला करता था। वह एक ही तार पर ऐसी सुन्दर-सुन्दर राग-रागनियां निकाला करता था, जिसकी मधुर ध्वनि पर मुग्ध होकर छोटे-छोटे बच्चे उसे घेर लेते और घर से पैसे लाकर इकतारा खरीद लिया करते। एक दिन एक बुद्धिमान् बालक ने उससे एक इकतारा खरीदा और जब उसने उसी के सामने उसे बजाने का प्रयत्न किया, तो प्रयत्न करने पर भी वह उसे न बजा सका। उसने निराश होकर बेचनेवाले से कहा - तुमने तो मुझे बिल्कुल बेकार इकतारा दे दिया है, इसमें तो राग निकलते ही नहीं हैं। बच्चे का आग्रह था कि वह इसे वही इकातारा दे दे, जिसे वह स्वयं बजा रहा था। बेचनेवाले ने बालक को तत्काल अपना इकतारा दे दिया। किन्तु बालक के लिये उस एक तार से इकतारावाले की तरह सप्त स्वर निकाल पाना सम्भव नहीं था। अभ्यास के बिना केवल देखकर वह तार से राग उत्पन्न भी कैसे करता ?

बिल्कुल यही बात साधक के जीवन की है। साधना-पथ के प्रत्येक पथिक को विधाता ने ऐसा ही इकतारा देकर संसार में भेजा है। लेकिन कुछ लोग तो उसके द्वारा जीवन में सप्त स्वरों की मधुर झंकृति का आनन्द ले लेते हैं, और दूसरे बच्चे के समान निराश होकर या तो जीवन से हार मान बैठते हैं, या दूसरे के इकतारों को देखकर विवशता का अनुभव करने लगते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि एक तार के द्वारा सप्त स्वरों को जिस प्रकार निरन्तर अभ्यास के बल पर प्रकट करना पड़ता है, उसी प्रकार जीवन में सोये सत्य को प्रकट करने के लिये साधन को सतत जागरूक रहकर साधना करनी होती है। जब हम किसी सन्त के मुख से सत्य का विवेचन सुनते हैं, तब हम जीवन के तथ्यों पर सन्देह कर निराश होने लगते हैं। इकतारा बता रहा है कि सभी तारों में स्वरों को प्रकट करने की शक्ति है। अन्तर इतना ही है कि स्वर प्रकट करने के लिये तार का स्पर्श करना पड़ता है, और फिर साधक की दीर्घकालीन साधना उसे मुखरित बना देती है।

इस सत्य का जीवन से भी यही सम्बन्ध है। जिन व्यक्तियों ने अपने इकतारे के तार को स्पर्श करने की कला सीख ली है, वे जीवन के सत्य को प्रकट करने में समर्थ हो सकते हैं। **वाणी** उसका **साधन** है, **मन** उसकी **शक्ति** है, **भाव** उसका **प्राण** है और **बुद्धि** उसे **विवेक** प्रदान करती है। ऐसे साधक की वाणी से शब्द प्रकट होते हैं, तो लगता है कि फूल झड़ रहे हैं। वाणी के द्वारा हमारे मानस में हलचल मचानेवाले भावों की ही अभिव्यक्ति होती है। सामान्य रूप से मन के सन्दर्भ में व्यक्ति यही

कहता हुआ पाया जाता है कि – **'हमारा मन तो इतने विकारों से भरा पड़ा है कि वह जीवन के वास्तविक स्वरूप को देख ही नहीं पाता।'** साधक को यह समस्या इतना अधिक परेशान किये रहती है कि साधारण व्यक्ति को यह भरोसा ही नहीं हो पाता कि जिस मन को वह दोष दे रहा है, वह बेचारा तो बिल्कुल निर्दोष है। वह यह सर्वथा भूल जाता है कि मन तो इकतारे के तार के समान कारण है, कर्त्ता नहीं। उससे कौन-सा राग निकले, यह तो बजानेवाले पर निर्भर करता है, न कि स्वयं तार पर। अतः हम सभी साधकों के लिये यह बड़े उत्साह की बात है कि हम अपने मन को अब दोष देना छोड़ दें। मन में स्वतः कार्य करने की क्षमता है ही नहीं।

मन को दोष देने के स्थान पर साधक को यह देखना चाहिये कि मन में विकार क्यों आते हैं, जिसके कारण हमारे मुख से वे शब्द निकाल ही नहीं पाते, जिन्हें निकलना चाहिये था ? यदि मन में स्वभाव से ही विकार हुए होते, तो वह लाख प्रयास करने पर भी कभी विकार-रहित हो ही नहीं पाता। सत्य तो यह है कि मन में कोई विकार स्वभाव से है ही नहीं। मन तो विचारों की हलचल का केन्द्र है। यह तो हमारे समर्थन पर निर्भर करता है कि हम अपने मुख से किन बातों को प्रकट करते हैं। हम जिन विचारों को प्रिय मानकर हृदय में स्थान दे देते हैं, वे ही समय पाकर मुख से प्रकट हो जाते हैं। विषयों में भोग की रुचि के कारण हमसे इतनी बड़ी भूल हो जाती है, कि जिन पदार्थों में जीवन देने की शक्ति है ही नहीं, उनमें हम जीवन मान बैठते हैं, और जहां से जीवन मिलता है, उस ओर हम विमुख हो उठते हैं। जब तक हम मन में उत्पन्न होनेवाले विचारों को अपना समर्थन नहीं देते, तब तक विचारों के आने मात्र से मन में कोई विकार या पाप उत्पन्न होता ही नहीं।

इसलिये सन्तों ने साधकों को एक बहुत बड़ा आश्वासन दिया है कि –

'ऐ मानव ! तेरे मन में स्वभाव से कोई विकार नहीं है। जब तुम कुविचारों अथवा असद् विचारों का समर्थन करने लगते हो, तब तुम्हारा मन भी विकृत हो जाता है, और फिर तुम्हारे मुख से ऐसे अटपटे स्वर निकलने लगते हैं, जिनका जीवन के सत्य से कोई मेल नहीं होता।'

जीवन में सबसे बड़ी समस्या भोगों में रुचि है। व्यक्ति जब भोग की रुचि में आबद्ध हो जाता है, तब वह जीवन में उन सभी कार्यों को कर डालता है, जिन्हें वह अपने ज्ञान से यह समझता चलता है कि उनका करना उचित नहीं है। मनुष्य की दुर्दशा का यह कैसा अनूठा चित्र है कि जिन भोगों ने आज तक उसे तृप्त नहीं किया, उन्हीं में वह बार-बार जीवन की तृप्ति खोज रहा है। यदि संसार के भोग्य पदार्थों में तृप्त बना देने का सामर्थ्य हुई होती, तो विश्व के सम्पन्न राष्ट्र तो शान्त ही हो जाते; पर ऐसा नहीं देखा जाता। अविचार की भूमि में भोग रूपी बीज उत्पन्न होकर मन को भी दूषित कर देता है, और फिर व्यक्ति भोग-विलास में आबद्ध हो जाता है। सन्तों के मुख से मैंने अनेक बार यह सुना है कि सार्थक कामों को पूरा कर देने के

पश्चात् और निरर्थक कार्यों का ज्ञान से त्याग कर देने के उपरान्त, मन का निग्रह स्वतः हो जाता है। जिन कार्यों के करने से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति होती है, वे ही सार्थक-कर्म कहे जाते हैं। बुराई का चिन्तन करने से बुराई और भलाई का चिन्तन करने से भलाई स्वतः होने लगती है, तथा मन भी स्वतः उधर ही चलने लगता है। अतः साधकों को बड़ी ही सजगता से इस रहस्य को समझ लेना चाहिये।

विचार करके देखिये कि मन में वासनाएं क्यों उत्पन्न होती हैं ? वासना का उत्पन्न होने का मूल कारण इतना ही है कि अभी तक हमने अपने ज्ञान की दृष्टि से वासना के मूल स्वरूप का दर्शन ही नहीं किया है। जिसे भोग का सही ज्ञान हो जाता है, उसकी भोग-विलास वासना स्वतः मिट जाती है, और मन बड़ी ही सरलता से निर्विकार हो जाता है। वासनाओं के समूह का नाम ही मन है, ऐसा सन्तों ने कहा है। समस्त वासनाओं का अन्त कर देने पर मन मर जाता है, और फिर काम, क्रोध, मोह आदि विकार साधक को विचलित नहीं कर पाते। वासनाओं का अन्त निज ज्ञान से ही सम्भव है। जब तक हम अपने जाने हुए सत् का सङ्ग नहीं करते, तब तक सच्चा सत्सङ्ग नहीं हो पाता। अतः वासनाओं का अन्त यथार्थ ज्ञान से ही सम्भव है। यथार्थ ज्ञान हृदय के शुद्ध होने पर ही होता है, और हृदय की शुद्धि इच्छाओं-कामनाओं के त्याग से ही सम्भव है। जब हम निर्विकार हो जाते हैं, तो जीवन के इकतारे से वही ध्वनि निकलने लगती है, जिसमें जीवन की मधुरिमा होती है, जीवन का आनन्द होता है, और जीवन का सत्य होता है। अतः हमें सजग होकर अपनी स्वर-तन्त्री को उस महिमावान् की स्वर लहरी से एक तार कर देना चाहिये। ❑

अन्तर्दृष्टि

* लेना हो तो बड़ों का आशीर्वाद लो।
* देना हो तो अभयदान दो।
* खाना हो तो क्रोध को खाओ।
* गाना हो तो भक्ति गीतों को गाओ।
* जाना हो तो सत्सङ्ग में जाओ।
* जानना हो तो परमेश्वर को जानो।
* मानना हो तो आप्तोपदेश को मानो।
* भागना हो तो वासनाओं से भागो।
* जीतना हो तो तृष्णाओं को जीतो।
* पीना हो तो भक्ति-रस को पीओ।
* पहनना हो तो भलाई के वस्त्र पहनो।
* करना हो तो ग़रीबों की सहायता करो।
* छोड़ना हो तो झूठ बोलना छोड़ो।
* बोलना हो तो प्रिय-सत्य बोलो।
* तोलना हो तो धर्म-अधर्म को तोलो।
* खोलना हो तो बुद्धि के द्वार खोलो।
* धारना हो तो विन्रमता धारण करो।
* मारना हो तो बुरे विचारों को मारो।
* देखना हो तो निज बुराईयों को देखो।
* सुनना हो तो सत्योपदेश को सुनो।
* पढ़ना हो तो आर्ष-ग्रन्थों को पढ़ो।
* चलना हो तो सन्मार्ग पर चलो।
* पहचानना हो तो स्व को पहिचानो।

धर्म का जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान

डॉ0 रामचरण महेन्द्र
कोटा (राजस्थान)

धर्म कोरा पढ़ने-लिखने की नहीं, जीवन में प्रतिदिन मानने और व्यवहार करने की पद्धति है। धर्म हमारे दैनिक जीवन का साथी और पथ प्रदर्शक है। वास्तविक धर्म वही है, जो हमारे व्यवहारिक जीवन को ऊंचा उठाता है। कुछ उदाहरण लीजिये -

ईश्वर सब कुछ देखता है -

मंगोलिया में चाङ्गशेन नामक एक न्यायशील अफसर रहता था। वह बड़ा धार्मिक पुरुष था और धर्म को सबसे अधिक महत्त्व देता था। पर अनुचित धन, रिश्वत आदि कभी भी किसी से नहीं लेता था।

एक दिन की बात है - उसके एक धनी मित्र उसके पास आये। शिष्टाचार-वश बातचीत होने के उपरान्त उन्होंने एक थैली निकाली और उन्हें भेंट करते हुए बोले - "हमारे और आपके अतिरिक्त इस बात को कोई नहीं जान सकेगा। कृपा करके आप इस थैली को रखिये और मेरा काम कर दीजिये। इसे कौन देखता है? कोई भी इस विषय में कभी भी नहीं जान सकेगा, इस बात से निश्चिन्त रहिये।"

वह समझते थे कि रिश्वत स्वीकार कर ली जायेगी तथा उनका अनैतिक कार्य हो जायेगा। पर न्यायाधीश के धर्म ने अपनी आवाज़ ऊंची की। उसकी अन्तरात्मा ने बल दिया और वे बोले - "मित्र ! यह मत कहो कि इस अनैतिक धन को कोई नहीं देखता। नैतिकता मानव स्वभाव का एक अनिवार्य अङ्ग है। मनुष्य को गुप्त धर्मबुद्धि से स्वयं उसे आन्तरिक तृप्ति और मनः शक्ति मिलती है। जिस दृष्टि से हम दूसरों के कार्यों की आलोचना करते हैं, उसी कटु दृष्टि से स्वयं अपनी भी आलोचना करनी चाहिये। इस अनैतिक धन को मांस के नेत्र तो नहीं, पर घर और धरती देखते हैं। आकाश के सैकड़ों नेत्र देखते हैं और सबका मालिक असंख्य नेत्रों वाला **[सहस्त्रशीर्षाः पुरुषः सहस्त्राक्षः]** परमेश्वर देखता है। मैं यह रुपया नहीं लूंगा।"

मैं धर्मबुद्धि की अवहेलना नहीं करूंगा -

सन् 1915 की एक घटना है। लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक का विचार विदेश जाने का हुआ। धन और यातायात सम्बन्धी अनेक अड़चनें तो थी हीं, पर एक और कठिनाई उपस्थित हुई।

बात यों हुई कि समुद्र यात्रा के विरुद्ध कथित धर्म खड़ा हो गया। उन दिनों समाज पिछड़ा हुआ था और धर्म का दायरा अति संकुचित था, समुद्र यात्रा धर्म के विरुद्ध मानी जाती थी। और तो और जो मन कड़ा करके विदेश यात्रा को चले जाते थे, उनको जाति से

च्युत (अलग) कर दिया जाता था, इससे कोई विदेश यात्रा की बात ही न सोच पाता था।

तिलक जी ने सोचा – "उन्नति और देश की प्रगति के लिए विदेशों में जाकर देखना चाहिये कि वे लोग कैसे तरक्की कर रहे हैं। पण्डितों से यदि विदेश जाने की व्यवस्था मिल जाय, तो फिर अड़चन न रहेगी।" यह सोचकर तिलक काशी पहुंचे और वहां के प्रमुख महामहोपाध्याय से प्रार्थना की कि – समुद्र यात्रा से धर्म हानि न होने को व्यवस्था वे दे दें।

पण्डित जी ने तिलक की प्रार्थना को सुना। उनका मन रुपये के लोभ में फंसा। उन्होंने अपनी मांग पेश करते हुए कहा – "यह काम धर्मशास्त्र के विरुद्ध तो है, पर यदि आप पांच हजार रुपया खर्च करें, तो विदेश जाने की व्यवस्था मिल सकती है। क्या आप इस राशि का प्रबन्ध कर सकेंगे ?"

तिलक को आशा बंधी, पर तभी उनकी अन्तरात्मा ने उन्हें झकझोर कर कहा – "धर्म ईश्वर का विधान है। नैतिकता हमारे समाज का सुदृढ़ आचार है। यदि धर्मबुद्धि की अवहेलना की जायेगी, तो समाज खण्ड-खण्ड हो जायेगा।" उनका अचेतन मन बार-बार उन्हें नैतिकबुद्धि के विरुद्ध कार्य करने को धिक्कारने लगा। रिश्वत वे दे सकते थे, पर रिश्वत देकर धर्म को अपने हक़ में करना उन्हें पापपूर्ण दिखाई देने लगा। दृढ़ स्वर में उन्होंने कहा – "मैं धर्मबुद्धि की अवहेलना नहीं करूंगा।"

इस प्रकार धर्म ने उन्हें अनैतिक आचरण से बचा लिया। ❑

ना भुलाना चाहिये

आचार्य श्याम

धर्म जीवन में कभी भी ना भुलाना चाहिए।
आपदा कितनी भी आयें, पर निभाना चाहिए॥

धर्म के ही मार्ग पर जीवन में जो चलते रहे।
पर दुःख से होकर दुःखित, दुःख दूरकर बढ़ते रहे।
अपने हृदय को भी कोमल ही बनाना चाहिए॥
धर्म जीवन में कभी भी.. ॥1॥

आपदा जीवन में आना, जीवन का इक धर्म है।
हंस करके उसको निभाना, धर्म का ही मर्म है।
खुद हंसो जग में सभी को, भी हंसाना चाहिए॥
धर्म जीवन में कभी भी.. ॥2॥

पढ़ देखो इतिहास जो भी, धर्म पर चलता रहा।
नाम उसका हर समय में, फूलता-फलता रहा।
पाप के मारग पै जीवन, ना चलाना चाहिए॥
धर्म जीवन में कभी भी.. ॥3॥

धैर्य का गुण धार क्षमा, की भी जो तलवार ले।
दम-अस्तेय-शुचि प्राप्त कर, इन्द्रियगति भी मार दे।
वेद का ही ज्ञान हृदय, में बसाना चाहिये॥
धर्म जीवन में कभी भी.. ॥4॥

बुद्धि की तुला पै सब कुछ, जो सदा धरता रहा।
सत्य है या असत्य निर्णय, उससे जो करता रहा।
सत्यविद्या से तिमिर, जग का हटाना चाहिए॥
धर्म जीवन में कभी भी.. ॥5॥

जग में हो निन्दा प्रशंसा, हो न विचलित मन कभी।
लक्ष्मी के नाश पर भी, हो न विगलित हृद कभी।
'श्याम' ऐसे पुरुष का, गौरव ही गाना चाहिए॥
धर्म जीवन में कभी भी.. ॥6॥

तनाव-मुक्ति के कुछ उपाय

सुप्रिया शर्मा
नारायण विहार (नई दिल्ली)

आज छोटा हो या बड़ा, हर व्यक्ति तनाव से ग्रस्त है। बच्चों के मस्तिष्क पर स्कूली शिक्षा और माता-पिता की आकांक्षाओं पर खरा उतरने का तनाव, माता-पिता का सन्तान को सुयोग्य इंजीनियर व डाक्टर बनाकर धन सम्पन्न बनाने का तनाव, व्यापारी को व्यापार की उलझनों का तनाव, नौकरी करनेवाले को अपने ऑफिस के कार्य को पूरा कर बॉस को सन्तुष्ट करने का तनाव, वृद्ध दादा-दादी को पोते-पोतियों तथा घर की सुरक्षा का तनाव - इस तरह जिधर भी नज़र डालो, ऐसा लगता है कि आज सम्पूर्ण मनुष्य समाज तनाव के बन्धन में पूरी तरह से बंध चुका है। आज तनाव इतना भयंकर रोग बनता जा रहा है, कि जहां यह समाज के मनुष्यों को रोगी बना रहा है, वहां अनेकों अपराधों तथा आत्महत्या जैसे दोषों का भी जनक माना जाने लगा है।

इस विषम परिस्थिति से बचने के लिए हम विकृत मनुष्य-समाज की ओर न देखकर सर्वप्रथम स्वयं अपने जीवन का निरीक्षण करें, और इस भयंकर बीमारी से अपने को बचाने का प्रयत्न करें।

आओ मैं कुछ बिन्दु यहां प्रस्तुत कर रही हूं, यदि आपने इनको अपनाने का प्रयत्न किया, तो अवश्य ही आप तनाव से मुक्त होंगे -

(1) सर्वप्रथम जैसे वैद्य या डाक्टर रोग के कारण को जानता है, उसी प्रकार आप भी तनाव का कारण खोजो और उस कारण को मिटाने की कोशिश करो।

(2) कोई भी मनुष्य सब कुछ प्राप्त नहीं कर सकता, यही प्रकृति का सिद्धान्त है। कोई विद्वान् है, तो कोई धनवान्। कोई धनवान् है तो कोई कार्यकर्त्ता। इसलिये सब कुछ प्राप्त करने के स्थान पर उसी के लिए पुरुषार्थ करो, जिस वस्तु की आपको परम आवश्यकता है, और आप पुरुषार्थ से प्राप्त कर सकते हैं। असम्भव वस्तुओं के लिए पुरुषार्थ करना मूर्खता है।

(3) सदा प्रसन्न रहने की कोशिश करो। प्रसन्नता का भाव मनुष्य को तनावमुक्त करता है।

(4) जहां आपको हंसने या मुस्कराने का मौका मिले, वहां खूब हंसो; खिलखिलाकर हंसो। ऐसा करने से आया हुआ तनाव डरकर शीघ्र भाग जायेगा।

(5) कार्य करने के बाद भी यदि सफलता न मिले, तो तनाव ग्रस्त मत रहो। यह चिन्तन करो कि मेरे पुरुषार्थ में कहीं कमी तो नहीं रह गई; यदि है, तो उसको दूर करने का प्रयत्न करो। यदि फिर भी आपको सफलता न मिले, तो पूर्व जन्म के पापकर्म का फल मानकर सन्तुष्ट रहो।

(6) प्रातः जल्दी जागकर सैर करना, योगासन-प्राणायाम करना, तनाव से मुक्त होने का सरल उपाय है। क्योंकि इन उपायों से मनुष्य इतनी अधिक ऊर्जा प्राप्त कर लेता है कि उसका उत्पन्न होनेवाला तनाव उस ऊर्जा से स्वयमेव विनष्ट हो जाता है।

(7) संसार में ईश्वरीय सत्ता सर्वोपरि है, उस सत्ता के प्रति नमन तथा उसका अवलम्बन मनुष्य को तनाव मुक्त करता है। संसार के महापुरुषों पर दृष्टि डालें, तो वे विपरीत परिस्थितियों में भी मुस्कराते हुए दिखाई देते हैं। यह मुस्कराहट ईश्वरीय अवलम्बन का ही परिणाम है।

(8) खुली हवा में सोना-बैठना तथा हरी-हरी घास पर सैर करना आदि कार्य मनुष्य को तनाव से मुक्त करते हैं।

(9) जिस स्थान वा परिस्थितियों से आपका मस्तिष्क तनावग्रस्त होता है, उस स्थान वा परिस्थितियों से दूर रहो। यदि ऐसा संभव न हो, तो उन समस्याओं से जूझने की, सैनिक के समान लड़ने की भावना अवश्य उत्पन्न करो।

(10) तनाव-ग्रस्त रहनेवाले को जल थोड़े-थोड़े अन्तराल के बाद पीते रहना चाहिये। आंवला चूर्ण या आंवले का रस तनाव मुक्ति में बहुत सहायक है।

(11) सात्त्विक शाकाहारी भोजन करनेवाला अधिकांशतः तनाव से मुक्त रहता है। तामसिक भोजन, मद्य, मांस, शराब आदि का सेवन करने वाले मनुष्य में तनाव की वृद्धि अधिक होती है।

(12) महामृत्युञ्जय तथा गायत्री मन्त्र का जाप तनाव तथा दुःख दोनों ही दूर करता है।

(13) जिस समय आप तनाव में हों, थोड़ी देर के लिये किसी भी सदस्य से बातचीत न कर मन ही मन गायत्री का पाठ करना प्रारम्भ कर दें, तथा आवश्यक हो तो शीतल जल के तीन बार आचमन भी कर लें, निश्चित रूप से आपका तनाव कम होगा।

(14) कुछ तनाव परिस्थिति-कृत होते हैं, तो कुछ तनाव स्वयं निर्मित भी होते हैं। जब हम प्रथम किसी कार्य को नियमित रूप से नहीं करते, तो अन्त समय में वह कार्य तनाव उत्पन्न करता है। जैसे प्रतिदिन पढ़नेवाले विद्यार्थी को परीक्षा के दिनों में तनाव नहीं होता। तनाव उस विद्यार्थी को होता है, जिसने पूरे वर्ष पढ़ने का कोई निश्चित नियम नहीं बनाया। यह सूत्र सभी स्थानों पर लागू होता है कि - नियमित कार्य करनेवाला तनावमुक्त होता है और नियमरहित कार्य करनेवाला तनावयुक्त होता है।

(15) जितनी लम्बी आपकी चादर हो, उतना ही पैर फैलाओ। अर्थात् जितनी आपकी धन व कार्य करने की सीमा हो, उसी सीमा में रहकर यदि कार्य करोगे, तो तनाव से मुक्त रहोगे।

(16) सद्ग्रन्थों का स्वाध्याय व सज्जनों का सत्सङ्ग जीवन जीने की कला सिखाता है। स्वाध्याय-सत्सङ्ग करनेवाला मनुष्य सदैव तनाव से मुक्त रहता है। यदि आपके मस्तिष्क में कोई विशेष तनाव है, तो किसी सद्ग्रन्थ का पढ़ना आरम्भ कर दो, तनाव दूर हो जायेगा। ❑

इस्लाम और वैदिकधर्म

स्व0 डा0 श्रीराम शर्मा
कासगंज (उत्तर प्रदेश)

इस्लामधर्म में 313 सम्प्रदाय हैं, जो सभी कुरान-शरीफ को अपना धर्मग्रन्थ स्वीकार करते हैं। यही कारण है कि ऋषि दयानन्द ने अन्य ग्रन्थों को छोड़कर केवल कुरान को ही इस्लामधर्म की समीक्षा का आधार बनाया है। मुसलमान मत को सत्यासत्य की कसौटी पर कसने से पूर्व ऋषि ने अपनी भावनायें इन शब्दों में प्रकट कर दी हैं, जिससे उनकी सद्भावना और सहृदयता झलकती है। वह कहते हैं -

"क्योंकि यह लेख केवल मनुष्यों की उन्नति और सत्यासत्य के निर्णय के लिए हैं, अर्थात् सब मतों के विषयों का थोड़ा-थोड़ा ज्ञान होवे। इससे मनुष्यों को परस्पर विचार करने का समय मिले और एक-दूसरे के दोषों का खण्डन कर, गुणों को ग्रहण करें।"

आज तक किसी मुसलमान विद्वान् या मौलवी ने स्वामी जी द्वारा कुरान की, की गई समीक्षा का तर्कपूर्ण खण्डन या उत्तर प्रकाशित नहीं किया। सिर्फ हत्यायें करने, धमकियां देने का प्रयत्न अवश्य किया है।

कुरानशरीफ को देखकर महर्षि दयानन्द ने यह अनुभव किया कि इस ग्रन्थ पर अन्धविश्वास के कारण असंख्य लोग इस भ्रम में हैं कि वह ईश्वरीय-ग्रन्थ है। अतः उन्होंने कुरान को ही 159 अन्तः-साक्षियों के आधार पर उन पर तर्कपूर्ण समीक्षायें सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास में उपस्थित करके जनता के सामने इस मान्यता का परीक्षण किया है।

कुरान की स्थिति -

कुरानशरीफ का निर्माण हुए लगभग 1400 वर्ष हो चुके हैं। इस्लाम मतानुयायी लोगों का विश्वास है कि कुरान की आयतें जिब्रील के नाम के फरिश्ते द्वारा खुदा हजरत मुहम्मद साहब पर भेजता था, और वे उनको लिख लिया करते थे। कालान्तर में इस सबको संग्रह किया गया और वह संग्रह ही कुरानशरीफ के रूप में विद्यमान है।

कुरान की आयतें एक साथ एक ही समय में नहीं आईं। उनका सिलसिला 23 वर्ष के लम्बे अर्से तक चलता रहा था। स्वयं कुरान में भी इसके समर्थन में अनेक आयतें मिलती हैं। कुरान के 30 सिपारे हैं, जिनमें 114 सूरतें हैं और कुल 6236 आयतें हैं। शिया सम्प्रदाय की मान्यता है कि कुरान में प्रारम्भ में 40 सिपारे थे। आज भी भारत में पहले 40 सिपारे का कुरान एक स्थान पर विद्यमान है।

कुरान के मर्मज्ञ स्व0 पं0 लेखराम जी आर्य मुसाफिर के अनुसार कुरान की छः हजार से अधिक आयतों में से मानव कल्याण तथा

ईश्वर आदि आध्यात्मिक विषय की केवल एक-दो सौ से अधिक आयतें कुरान में नहीं हैं। अधिकांश आयतें समय-समय पर मोहम्मद साहब को जैसी आवश्यकता हुई या स्थिति उनके सामने उत्पन्न हुई, उसके अनुसार प्राप्त हुईं।

इस्लाम में ऐकेश्वरवाद -

कुरान में **'ला इलाह इल्लिला'** अर्थात् खुदा के अतिरिक्त और कोई खुदा नहीं है, यह घोषणा की गई है, किन्तु उसके साथ मोहम्मद रसूले अल्लाह यह जोड़कर लाशरीक खुदा के साथ मोहम्मद साहब को भी शरीक कर दिया गया है। केवल खुदा या ईश्वर पर विश्वास करनेवाले व्यक्ति तब तक मुसलमान नहीं हो सकते, जब तक कि वे मोहम्मद साहब पर वो विश्वास न करे। एक मुसलमान कवि ने तो यहां तक कहा है कि - **'कसम है खुदा की खुदाई न होती, अगर मोहम्मद की जलवेनुमाई न होती'** कुरान में जगह-जगह स्वयं अल्लाह ने भी उसके रसूल मोहम्मद को मानने का आदेश दिया है।

खुदा और शैतान -

इस्लाम का ऐकेश्वरवाद शैतान की चुनौती के कारण भी वास्तविक नहीं है। शैतान को भी लगभग ईश्वर के समान शक्ति सम्पन्न माना गया है, और तभी वह खुदा की आज्ञा की अवहेलना करने में समर्थ है। ऋषि दयानन्द ने वेद के आधार पर एकेश्वरवाद की जो कल्पना की है, उसमें ईश्वर सर्वशक्तिमान् है और इसलिए उसकी अवज्ञा करने में समर्थ किसी शैतान के लिये उसमें कोई स्थान नहीं है, और न ही किसी पैगम्बर, मसीहा, दूत, फरिश्ते, अकेले बेटे, अवतार अथवा गुरु की मध्यस्थता की ही कोई आवश्यकता है। वेद के परमात्मा की अनुभूति मानव स्वयं अपनी आत्मा से ही कर सकता है। दूसरे की मध्यस्थता से नहीं।

बुत परस्ती -

स्वयं मोहम्मद साहब की स्थिति व्यवहार में हिन्दुओं के ईश्वर के अवतार से भिन्न नहीं है और इस प्रकार उसमें मूर्तिपूजा ही नहीं, मनुष्य पूजा का भी समावेश है। मक्का की हज यात्रा तथा वहां के काबे से विशाल काले पत्थर (संगे असमत) की चुम्बनपूजा अरबों की देवी-देवताओं तथा मूर्तियों की तीर्थयात्रा का ही अवशेष है, यह स्वयं मुसलमान स्वीकार करते हैं। दूसरी ओर स्वामी दयानन्द और उनका आर्यसमाज कहीं अधिक वास्तविक अर्थों में बुतपरस्ती का विरोध करता है। शायद इसीलिये पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी ऑफ इण्डिया' (1964 के संस्करण) के पेज 355 पर यह लिखा था कि -

"आर्यसमाज इस्लाम के निकट अर्थात् समान है।"

धर्मों का स्त्रोत -

कुरान शरीफ अपने से पहली धर्म पुस्तकों (तौरेत, जबूर और इंजील) को भी खुदाई किताबें मानता है। उन किताबों को पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी लगभग सभी सामग्री कुरान में ले ली गई है। स्वयं कुरान में भी लिखा है कि वह उन किताबों की व्याख्या

(तफसील) मात्र है। वस्तुतः बात भी यही है कि कुरान यदि उन पहली पुस्तकों को जो यहूदी व ईसाई सम्प्रदाय को मान्य थी, अमान्य कर देता तो उसका भारी विरोध किया जाता। कुरान में वर्णित सभी महापुरुष ऐतिहासिक घटनायें व स्थान ज्यों के त्यों बाइबिल में पहले से ही विद्यमान हैं। ऐसी कोई भी नई महत्त्वपूर्ण बात उसमें नहीं है, जो पहले से पुरानी पुस्तकों में न हो।

श्री गङ्गाप्रसाद जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **"दी फाउन्टेन हेड आफ रिलीज़न"** जिसका हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध कवि और सम्पादक श्री हरिशङ्कर जी शर्मा ने **"धर्म का आदिस्त्रोत"** इस नाम से किया है, उसमें विद्वान् लेखक ने इन सब धर्मग्रन्थों के उद्धरण देकर यह सिद्ध किया है कि मुसलमानी मत का मुख्य आधार यहूदीमत और ईसाईमत हैं। जन्नत, दोज़ख, कयामत, फरिश्ते, खुदा की जन्नत में निवास, दुनिया बनाने का खुदा का समय, खुदा के यहां लोगों के कर्मों के रजिस्टर होना आदम-हौव्वा से मनुष्यजाति की उत्पत्ति, शैतान की उत्पत्ति और खुदा से उसका झगड़ा, कयामत के दिन पैग़म्बरों के द्वारा अपने अनुयायियों को क्षमा दिलाना, विरोधियों को दोज़ख की भट्टियों में झोंकना आदि सभी स्थानों में लगभग एक जैसा ही बर्त्ताव मिलता है। खुदा का संसार को पांच दिन में बनाकर फिर सातवें दिन आराम करना वा थकावट मिटाने का वर्णन सभी में एक जैसा है। खुदा की जो व्याख्या पुरानी पुस्तकों में व कुरान में मिलती है, उसमें यहूदी, ईसाई व मुसलमानों का खुदा सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अनन्त, निर्विकार, सर्वाधार, सर्वेश्वर आदि गुणों वाला न होकर साधारण मनुष्य के समान साबित किया गया है। कुरान में बहुत-सी आयतों का संशोधन भी किया जाता रहा है। 157 आयतें निरस्त कर दी गई हैं, तथा उनके स्थान पर नई आयतें बनाकर रख दी हैं, और इस विषय में कई स्थानों पर स्वयं खुदा की ओर से कहा गया है कि आयतों को बदलकर नई रख देने का रहस्य खुदा ही जानता है। इस प्रकार कुरान की प्रामाणिकता पर स्वयं कुरान ने ही सन्देह को जन्म दिया है। कुरान में बहुत से स्थलों में परस्पर विरोधी दावे व उपदेश हैं। बहुत-सी आयतें प्रत्यक्ष विज्ञान एवं बुद्धि विरुद्ध वर्णनों से भरी हुई हैं। अनेक स्थल ऐसे भी हैं जो कुरान को खुदाई कलाम साबित नहीं होने देते हैं। अनेक स्थल खुदा को स्वयं पक्षपाती व अन्य सम्प्रदाय वालों को शत्रु घोषित करते हैं। अनेक आदेश खुदा की पवित्र सत्ता को अन्यायकारी तथा अल्पज्ञ साबित करते हैं। अनेक स्थल ऐसे भी हैं जो पुरानी खुदाई किताबों के विरुद्ध हैं, जबकि यदि वे खुदाई हैं, तो उनमें विरोध सम्भव नहीं होना चाहिये था, क्योंकि एक राजा का एक ही कानून होता है, और उसमें परस्पर विरोध नहीं होता है।

इस्लाम अन्तिम कैसे ? -

मुसलमानों का सबसे विचित्र और आश्चर्यजनक दावा यह है कि कुरान से पहले की सब धर्म पुस्तकें और मोहम्मद साहब से पहले के सारे पैग़म्बर खुदा से निरस्त कर दिये

और अब सदा के लिए कुरान अन्तिम धर्मग्रन्थ और मोहम्मद साहब आखरी पैगम्बर हैं। इस संसार को बने लाखों वर्ष हो गये, किन्तु इससे पूर्व खुदा द्वारा भेजे गये पैगम्बर ईश्वर ने यदि अब अयोग्य और अनधिकृत घोषित कर दिये, तो वह इस बात का प्रमाण है कि खुदा सर्वज्ञ न होकर इन्सानों की तरह ग़लतियां करता है। पहले की धर्मपुस्तकों को खारिज करने के बारे में भी ईश्वर पर इसी प्रकार का दोष लगाया जा सकता है। एक दूसरा प्रश्न यह है कि सैमेटिक अर्थात् अरब मुल्कों का सबसे पुराना धर्मग्रन्थ जिन्दावस्था तीन हजार वर्ष से अधिक पुराना नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या इससे पूर्व खुदा ने कोई किताब या पैगम्बर नहीं भेजा, और यदि नहीं भेजा तो उस समय तक संसार के मनुष्यों के लिए धर्म, पाप, पुण्य, स्वर्ग, नरक की किस आधार पर व्यवस्था की गई थी। इस्लाम की ये सब मान्यतायें इस अज्ञानता पर आधारित हैं कि सृष्टि को बने कुछ ही हजार वर्ष हुए हैं। सेमेटिक धर्म जहां उत्पन्न हुआ, वहां के लोगों को शायद इस बात का ज्ञान तक नहीं था कि सबसे पहले की ईश्वरीय ज्ञान का पुस्तक वेद है। कुरान द्वारा उसे निरस्त नहीं किया गया है।

नटेशन कम्पनी मद्रास द्वारा अहमद शफी और याकूब हसन साहब द्वारा हजरत मोहम्मद के जीवन और शिक्षा पर प्रकाशित अंग्रेजी पुस्तक के पृष्ठ 52 पर स्वीकार किया गया है कि कुरान के अध्याय 14-4 में खुदा ने कहा है कि हमने कोई ऐसा पैगम्बर नहीं भेजा, जो अपने साथियों की भाषा न जानता हो और जिसके द्वारा वह उन्हें शिक्षा न दे सके। जहां तक कुरान का सम्बन्ध है, वह केवल एक अरबदेश की भाषा में है, और इसलिए केवल वहीं के निवासियों के लिए है। सारे संसार के लिये दिया गया ईश्वरीय ज्ञान या किताब केवल किसी एक जाति या देश-विशेष की भाषा में प्रकट नहीं हो सकती, जैसा स्वयं खुदा ने ऊपर कहा है।

स्वयं मोहम्मद साहब का जीवन और ज्ञान उनके अर्ध सभ्य समय की दृष्टि से कितना ही अच्छा रहा हो, यह कैसे कहा जा सकता है कि उसके बाद आज लगभग पन्द्रह सौ वर्षों में मनुष्य की जानकारी और ज्ञान में कोई उन्नति और विकास नहीं हुआ है। यह कहना तो और भी आश्चर्यजनक होगा कि भविष्य में भी कोई महापुरुष मोहम्मद साहब से अधिक जानकार और धर्मात्मा नहीं हो सकता। कुरान में यह बात शायद इसलिये लिखी गयी है कि उसके अनुसार जल्द ही कयामत आने वाली थी, किन्तु वर्तमान वैज्ञानिकों के अनुसार अभी यह सृष्टि और मनुष्यजाति लाखों-करोड़ों वर्ष तक रहेगी, इसलिये अभी से ज्ञान, धर्म, बुद्धि, चरित्र, सभ्यता और संस्कृति सब कुछ सदा के लिए छठी सदी के कुरान में सील बन्द करके नहीं रक्खा जा सकता। ऐसा करना अनादि, अनन्त और सर्वज्ञ ईश्वर का भी अपमान है, जो स्वयं एक कुफ्र या नास्तिकता है।

तलवार की परम्परा -

ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय, तो मोहम्मद साहब के प्रादुर्भाव के समय अरब की धार्मिक और सामाजिक स्थिति कुछ वैसी ही थी

जैसी ऋषि दयानन्द के आगमन के समय हिन्दुओं की। मोहम्मद साहब ने अपने सारे जीवन और दृढ़ संकल्प के आधार पर अनेक देवी-देवताओं की पूजा करनेवाले तथा सामाजिक कुरीतियों और आपसी कलह के कारण बंटे हुए अरबों के कबीलों को इस्लाम के रूप में एक नवीन धर्म दिया। परिणाम स्वरूप रेगिस्तान प्रदेश के ये पिछड़े हुए लोग संगठित होकर नई प्रेरणा से अनुप्राणित हो गये। और मज़हब और दीन के नाम पर सैनिकवाद और साम्राज्यवाद की महत्त्वाकांक्षायें उनके धार्मिक युद्धों के आधार बन गये। जहां तक अन्य प्राचीन और सभ्य देशों में इस्लाम के प्रसार का सम्बन्ध है, उसका कारण उसकी दार्शनिक या नैतिक श्रेष्ठता नहीं थी, बल्कि अन्य देशों की सैनिक और सामाजिक व अन्य कमजोरियां और परिस्थितियां थीं। स्वयं मोहम्मद साहब ने इस्लाम के नाम पर अनेकों लड़ाईयां लड़ीं, जिनको जिहाद अर्थात् धार्मिक युद्ध कहा गया। कुरान की आयतों से स्पष्ट है कि अपने दीन के प्रचार और प्रसार के लिए इस्लाम हिंसा और तलवार का उपयोग करने का समर्थन करता है। उसके बल पर राज्य स्थापना के बाद पराजित लोगों का धर्म परिवर्तन भी राज्य के दबाव या पद तथा प्रतिष्ठा आदि अन्य प्रलोभनों से होता रहा।

एक बार इस्लाम स्वीकार करने के बाद उनके वंशजों द्वारा अपने जन्मजात धर्म का पालन करते रहना स्वाभाविक था। स्वयं भारत के अधिकांश मुसलमान ऐसे हिन्दू पूर्वजों के ही वंशज हैं।

सर मोहम्मद इकबाल का शिकवा -

इस्लाम के प्रसिद्ध दार्शनिक और कवि सर मोहम्मद इकबाल ने अपनी **'शिकवा'** नामक प्रसिद्ध कविता में इस्लाम में जिहाद की इस परम्परा की पुष्टि ही है। कविता में मुसलमानों की तत्कालीन दुरावस्था की खुदा से शिकायत करते हुए वह लिखते हैं -

हमसे पहले था अजब तेरे जहां का मंजर।
कहीं मस्जूद थे पत्थर, कहीं माबूद शजर।

पर तेरे नाम पै तलवार उठाई किसने ?
बात जो बिगड़ी हुई थी, यह बनाई किसने ?

कौम अपनी जो जरोभाले-जहां पे भरती।
बुत-फरोशी के इवज बुत-शिकनी क्यों करती ?

नक्श तौहीद का हर दिल पै बिठाया हमने।
जेरे-खंजर भी यह पैगाम सुनाया हमने।

तोड़े मखूलके-खुदाबन्द के पैकर किसने ?
काटकर रख दिये, कफ्फार के लश्कर किसने ?

मध्ययुग की पुनरावृत्ति -

इस्लाम धर्म और उसके खुदा का प्रचार करने के लिये मूर्तियों को तोड़ने, खुदा के नाम पर तलवार उठाने और खंजर के बल पर खुदा का पैगाम सुनाने तथा काफिरों की सेनाओं को काटने और नगरों को नष्ट करने के लिये किये गये इस सब रक्तपातों की परम्परा का इससे अधिक अधिकृत वर्णन और क्या हो सकता है ? इस प्रकार जाहिर है कि रहमान और रहीम खुदा की दया और कृपा केवल इस्लाम और उसके रसूल मोहम्मद को माननेवाले तक ही सीमित

है। वह ऐतिहासिक भूमिका इस्लाम के जन्म और विस्तार को ठीक प्रकार से समझने के लिये तो जरूरी है ही, साथ ही मध्य पूर्व के अनेक मुस्लिम देशों तथा हमारे पड़ौसी पाकिस्तान तक में मध्यकालीन युग की धर्मान्धता की वर्तमान पुनरावृत्ति की भी परिचायक है। इतना ही नहीं स्वयं भारत में इसकी चेतावनी देनेवाली गूंज प्रतिध्वनित होने लगी है। इस्लाम की जन्मभूमि और उसके पुराने साम्राज्य के अवशिष्ट देशों से प्रवाहित पेट्रोडालर की बाढ़ उतनी ही कारगर हो सकती है, जितनी इस्लामी जिहाद के दिनों में उसकी तलवार।

मीनाक्षीपुरम् के सामूहिक धर्मान्तरण तथा दक्षिण हैदराबाद के धर्म प्रेरित दंगे इसका कुछ आभास देते हैं।

प्रश्न इतना ही नहीं है कि क्या अपने पूर्व अनुभवों से शिक्षा लेकर इस देश के हिन्दू और राष्ट्रवादी मुसलमान खतरे की इस घंटी को समय रहते सुन सकेंगे ? ❐

* महर्षि उवाच *

"अब अभाग्योदय से आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों में राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त्त में भी आर्यों का अखण्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है, सो भी विदेशियों से पादाक्रान्त हो रहा है, कुछ थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है।"

(सत्यार्थप्रकाश अष्टम् समुल्लास)

समय की मांग

डा0 विश्वदेव शर्मा

आंधी में भटकी नौका-सा,
जीवन ऊब-डूब होता है।
नैतिकता विधवा-सी बैठी,
साहस कायर-सा रोता है।
दया दीखती नहीं कहीं भी,
बन बैठा आनन्द अजाना।
दयानन्द जैसे पुरुषों को
खोज रहा है आज जमाना।
ऊंच-नीच की ये दीवारें
धर्म-भेद की गहरी खाई।
मनुज-मनुज में भेद भयानक
भाई का दुश्मन है भाई।
है पूरब की आर्य-सभ्यता
गिरवी पश्चिम के हाथों में
हैं कलंक के टीके जैसे
लगे तिलक सबके माथों में।
"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" का,
घोष उठाता कण्ठ चाहिये।
ओंकार की महिमा गाने को।
जीवन भी उत्कण्ठ चाहिये।
चरण चाहिये जो राहों के।
भटकावों में पा लें मंज़िल।
लहर चाहिये जो मझधारों।
में भी आज उभारें साहिल।
नेता आज चाहिये ऐसा
जो त्यागी हो संन्यासी हो।
ऋद्धि-सिद्धि हों जिसकी चेरी
पीछे बने जगत् का जेता।
देश, धर्म, मानवता को जो,
उन्नति-शिखरों तक ले जाये।
दयानन्द की तरह उठे जो,
पतितों को भी साथ उठाये॥

धर्म का प्रमुख लक्षण - "अक्रोध"

आचार्य रघुनाथ प्रसाद जी
वरिष्ठ लेखक एवं पत्रकार (दिल्ली)

क्रोधादि दोषों को छोड़कर शान्त्यादि गुणों को ग्रहण करना 'अक्रोध' कहलाता है। क्रोध मन के विकारों में से है, जो मनुष्य को धर्म-मार्ग से च्युत् कर देता है।

एक स्त्री ने एक नेवला पाल रखा था, जिसे वह बहुत प्यार करती थी। एक दिन वह अपने बच्चे को पालने में सुलाकर और उस नेवले की देख-रेख में छोड़कर कुएं से पानी लेने गई। इसी बीच में एक भयङ्कर सांप कमरे में आ निकला। ज्योंही उसने बच्चे को खाना चाहा, त्योंही नेवले ने उस पर हमला कर दिया। दोनों में देर तक लड़ाई हुई और अन्त में नेवला विजयी रहा। उसने सांप को मारकर उसके कई टुकड़े कर डाले। जब वह स्त्री पानी भरकर लौटी और नेवले को लहू-लुहान पाया तो उसने सोचा कि नेवले ने उसके बच्चे को मार डाला है। क्रोध में आकर उसने नेवले पर घड़ा दे मारा और वह मर गया। नेवले को मार कर जब वह स्त्री कमरे में घुसी, बच्चे को ठीक पाया, तो उसे अपनी भूल ज्ञात हुई और वह फूट-फूट कर रोने लगी। निश्चय ही क्रोध का प्रारम्भ मूर्खता और अन्त पश्चात्ताप में हुआ करता है। क्रोध की अवस्था में मनुष्य का विवेक जाता रहता है, और मनुष्य स्वयं ऐसी अवस्था उत्पन्न कर लेता है जब वह क्रोध के पात्र के स्थान में स्वयं अपने पर क्रोध करने लग जाता है। अतः क्रोध आ जाने पर मनुष्य को उसके परिणामों पर विचार कर लेना चाहिए। जो व्यक्ति विवेक के द्वारा अपने क्रोध पर विजय प्राप्त करते हैं, वे मनुष्यों में उत्तम माने जाते हैं।

क्रोध एक प्रकार का नशा होता है, जो मनुष्य के आभ्यन्तर को मनुष्य से छिपाता, परन्तु दूसरों पर प्रकट कर देता है। क्रोधी जन अपनी आत्मा का विकास करने में न केवल असमर्थ ही रहते, प्रत्युत् अपनी आत्मा के विनाश का कारण बनकर दुःख पाते हैं। नीतिकार ने ठीक ही कहा है -

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥

(गी0 16/21)

अर्थात् - **काम, क्रोध** तथा **लोभ** - ये आत्मनाशक (आत्मा का नाश करनेवाले) तथा नरक (दुःखमयी गति को प्रदान करनेवाले) के तीन प्रकार के द्वार हैं। इसीलिये मनुष्य इन तीन का त्याग करे।

क्रोध का मनुष्य के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। शरीर की शोभा नष्ट हो जाती है और आयु क्षीण हो जाती है। क्रोध से पराभूत हुआ सुन्दर से सुन्दर व्यक्ति भी असुन्दर देखा जाता है।

क्रोधी व्यक्ति के अमित्रों की संख्या बढ़ती और मित्रों की घटती है। इतना ही नहीं अपने भी पराये होकर उसके अनिष्ट का कारण बन जाते हैं। रावण के क्रोध ने विभीषण को पराया बनाकर उसके सर्वनाश की भूमि तैयार कर दी थी। बाली ने क्रोध और अनीति का आश्रय लेकर अपने सहोदर भाई सुग्रीव पर ज्यादती की, जिसका परिणाम प्रायः आप सब जानते ही हैं।

पैशुन्यं साहसं द्रोह
ईर्ष्यासूयार्थ दूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्य
क्रोधजोऽपि गणोष्टकः॥

(मनु0 7/48)

चुगली करना, बिना विचारे किसी भी स्त्री के साथ बलात्कार करना, वैर रखना, ईर्ष्या करना, दोषों में गुण, गुणों में दोषारोपण करना, अधर्मयुक्त बुरे कामों में धनादि व्यय करना, कठोर वचन बोलना और बिना अपराध के कड़ा वचन बोलना या विशेष दण्ड देना - ये आठ दुर्गुण क्रोध से उत्पन्न होते हैं।

चुगली करना, पीठ पीछे किसी की बुराई करना और कड़वे वचन बोलना - ये दुर्गुण वाणी के विष समझे जाते हैं। कल्याण के अभिलाषियों को इस विष से बचना चाहिए।

हम ऐसे व्यक्तियों को जानते हैं जिनमें आपस में बड़ा प्रेम था। दुर्भाग्य से किसी बात पर उनमें मनमुटाव हुआ और तीखे एवं कड़वे वचनों के प्रयोग ने उन्हें एक-दूसरे से ऐसा अलग कर दिया, मानो उनमें कभी प्रेम न था। तभी कहा जाता है कि तलवार का घाव भर सकता है, परन्तु वाणी का घाव कभी नहीं भरता।

क्रोध छोटे से छोटे और बड़े से बड़े प्रायः सब प्राणियों में होता है। बहुत से व्यक्ति जरा-जरा सी बात पर क्रोध कर बैठते हैं। बहुत से व्यक्तियों को छोटी-छोटी बातों पर क्रोध नहीं आता और आता भी है तो बहुत कम। बहुत से व्यक्तियों को बहुत देर में क्रोध आता है। जरा-जरा सी बात पर अकारण क्रोध करना लड़कपन होता है। क्रोध में आपे से बाहर होकर भयानक रूप धारण करना, पाशविक माना जाता है। क्रोध को निरन्तर बनाए रखना राक्षसों का स्वभाव और व्यवहार होता है। छोटी-छोटी बातों पर आवेश आ जाने से क्रोध का स्वभाव बन जाया करता है। जिसका अन्त प्रायः कटुता और शत्रुता में होता है।

बढ़ते हुए क्रोध को दबा लेना बुद्धिमत्ता और गौरवपूर्ण होता है, और ऐसे व्यक्ति वीर और दिव्य होते हैं। क्रोध को दबाना अच्छा और क्रोध को रोकना उससे भी अच्छा होता है। गुणवान और वीर पुरुष हीनगुण वालों पर क्रोध नहीं किया करते, ऐसे ही व्यक्तियों को बहुत कम क्रोध आता है।

प्रसन्नचित्त, बुद्धिमान् और तबियत में लापरवाह व्यक्तियों का क्रोध विवेकपूर्ण हुआ करता है, और वह बहुत देर में आता तथा शीघ्र समाप्त हो जाता है। निर्बुद्धि और कायर व्यक्ति जब भूल करता और उस भूल को स्वीकार नहीं करता, तो वह सदा तैश में आ जाता है। वह अपनी बुद्धि की कमी को क्रोध के द्वारा पूर्ण

धर्म संवर्द्धिनी सभा के तत्त्वावधान में दिनाङ्क २ मार्च २०१५ को सिलाई केन्द्र मधुविहार, द्वारका में यज्ञ एवं सिलाई प्रमाण-पत्र वितरण तथा २७ मार्च २०१५ को आर्यसमाज इन्द्रपुरी में श्रीराम जन्मोत्सव कार्यक्रम

सिलाई केन्द्र में प्रमाण-पत्र वितरण यज्ञ में सम्मिलित होने वाले विद्यार्थी

सिलाई केन्द्र मधुविहार में आचार्य श्याम जी यज्ञ कराते हुए

श्रीमती सरला सूद एवं श्रीमती रति सूद अपने परिवार के साथ यज्ञ करते हुए

श्रीमती सरला सूद एवं श्रीमती नीलम सूद पुत्र एवं पौत्र के साथ प्रमाण-पत्र देते हुए

श्रीमती सरला सूद एवं श्रीमती नीलम सूद बालिकाओं को प्रमाण-पत्र देते हुए

श्रीमती सरला सूद एवं श्रीमती नीलम सूद बालिकाओं को प्रमाण-पत्र देते हुए

श्रीराम जन्मोत्सव के अवसर पर आचार्य श्याम जी यज्ञ कराते हुए

श्रीराम जन्मोत्सव यज्ञ में यजमान गाडी परिवार यज्ञ करते हुए

श्रीराम जन्मोत्सव यज्ञ में यजमान वालियान परिवार यज्ञ करते हुए

तबला वादक के रूप में श्रीराम कथा में संगति करते हुए श्री सुधाकर शर्मा

श्रीराम कथा सुनते हुए बालक एवं बालिकाओं का समूह

श्रीराम कथा सुनते हुए आर्यसमाज इन्द्रपुरी के सदस्य महानुभाव

महिला आर्यसमाज नारायण विहार की प्रधाना सन्तोष वधवा कथा में भाग लेते हुए

श्रीराम कथा श्रवण करते हुए आर्यसमाज इन्द्रपुरी के सदस्यगण

श्री सुधाकर शर्मा तबले पर श्रीराम कथा में संगति करते हुए

धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली राज्य के तत्त्वावधान में दिनाङ्क १८ मई से २४ मई २०१५ तक सनातन धर्म मन्दिर नारायण विहार में "संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर" का कार्यक्रम

स्वामी श्रद्धानन्द वाटिका नारायण विहार के द्वार पर लगा शिविर कार्यक्रम का बैनर

शिविर में भाग लेने वाले कक्षा 5 से कक्षा 12 तक के बालक एवं बालिकायें

श्रीमती कृष्णा झॉब नैतिक शिक्षा से सम्बन्धित बच्चों को उद्‌बोधन देते हुए

डी.पी.एस. स्कूल की भूतपूर्व प्रधानाचार्या श्रीमती अरुणा जी बच्चों को उपदेश देते हुए

भूतपूर्व हाईकोर्ट जज श्री सुरेश चुघ जी बच्चों को सम्बोधित करते हुए

दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के महामन्त्री श्री विनय आर्य बच्चों को सम्बोधित करते हुए

प्रधानाचार्य श्री द्विजेन्द्र शास्त्री बच्चों को नैतिक शिक्षा का उपदेश देते हुए

आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् डा0 महेश विद्यालङ्कार जी बच्चों को उपदेश देते हुए

दिल्ली के पूर्व परिवहन मन्त्री श्री रमाकान्त गोस्वामी बच्चों को उपदेश देते हुए

सनातन धर्म मन्दिर नारायणा के मन्त्री श्री हरकिशन कत्याल उद्‌बोधन देते हुए

श्रीमती शकुन्तला आर्या एवं सन्तोष वधवा बच्चों को प्रमाण-पत्र देते हुए

सनातन धर्म मन्दिर नारायणा के पदाधिकारी बच्चों को प्रमाण-पत्र देते हुए

आचार्य श्याम जी बच्चों को शिविर में आने का लाभ बतलाते हुए

श्री करणसिंह तंवर एवं डॉ0 वालियान जी बच्चों को प्रमाण-पत्र देते हुए

श्री चन्द्रभान जी, श्रीमती तारा शर्मा एवं श्री अरुण कुमार जी बच्चों को प्रमाणपत्र देते हुए

धर्म संवर्द्धिनी सभा के तत्त्वावधान में दिनाङ्क २५ मई से ३० मई २०१५ तक आर्यसमाज इन्द्रपुरी में बालक एवं बालिकाओं के लिए "संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर" का कार्यक्रम

'संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर' में भाग लेने वाले शिविरार्थी गण

सभा प्रधान श्रीमती तारा शर्मा शिविर में बच्चों को प्रार्थना कराते हुए

'संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर' में शिविरार्थी योगासन करते हुए

सभा मन्त्रिणी श्रीमती परमजीत कौर बच्चों को प्राणायाम कराते हुए

प्रधानाचार्या श्रीमती इन्दिरा शर्मा बच्चों को उपदेश देते हुए

श्री करणसिंह तंवर बच्चों को वैदिक संस्कृति ज्ञान का परिचय देते हुए

समाजसेवी श्री राजेन्द्र नन्दा बच्चों को धर्म-शिक्षा का उपदेश देते हुए

महिला आश्रम की अध्यक्षा श्रीमती आदर्श सहगल बच्चों को धर्म-शिक्षा का उपदेश देते हुए

आर्यसमाज राजेन्द्र नगर की प्रधाना श्रीमती सावित्री शर्मा बच्चों को धर्म-शिक्षा का उपदेश देते हुए

डॉ0 कर्णदेव जी तथा श्री रणवीर जी श्री हरिदेव शास्त्री जी के साथ

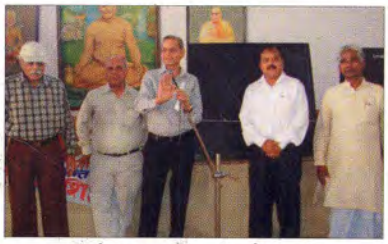

आर्यसमाज इन्द्रपुरी के मन्त्री डॉ0 वालियान जी उद्‌बोधन देते हुए

इन्द्रपुरी क्षेत्र के निगम पार्षद श्री सूरज प्रकाश जी बच्चों को उद्‌बोधन देते हुए

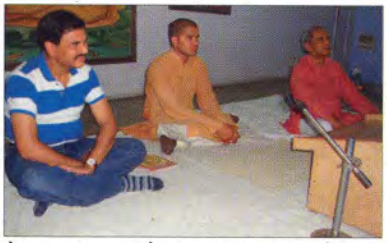

फ्रेन्टियर बिस्कुट के अध्यक्ष श्री संजीव सेठी जी शिविर समापन कार्यक्रम में मंच पर

युवा विद्वान् श्री हरिदेव शास्त्री जी बच्चों को उपदेश देते हुए

डॉ0 कर्णदेव जी, संजीव सेठी, राजेन्द्र नन्दा, इन्दिरा शर्मा तथा परमजीत कौर समापन अवसर पर

धर्म संवर्द्धिनी सभा, दिल्ली राज्य के तत्त्वावधान में दिनाङ्क ११ मई से १७ मई २०१५ तक ओमविहार में "वैदिक संस्कृति ज्ञान प्रतियोगिता" तथा २१ जून को आर्यसमाज इन्द्रपुरी में योगदिवस कार्यक्रम

श्रीमती तारा शर्मा बच्चों को शिविर में वैदिक संस्कृति ज्ञान पढ़ाते हुए

श्रीमती मिथलेश शर्मा एवं तारा शर्मा 'क' वर्ग में शिवांगी को प्रथम पुरस्कार देते हुए

श्रीमती मिथलेश शर्मा एवं तारा शर्मा 'क' वर्ग में तमन्ना को द्वितीय पुरस्कार देते हुए

श्रीमती मिथलेश शर्मा एवं तारा शर्मा खुशबू को पुरस्कार देते हुए

श्रीमती मिथलेश शर्मा एवं तारा शर्मा 'ख' वर्ग में ईशा को द्वितीय पुरस्कार देते हुए

श्रीमती तारा शर्मा के साथ 'क-ख-ग' वर्ग के उत्तीर्ण परीक्षार्थियों का चित्र

आचार्य सोममित्र जी योग विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करते हुए

अन्तर्राष्ट्रीय योग-दिवस कार्यक्रम में भाग लेते हुए योगार्थी जन

योग-दिवस कार्यक्रम में महिलाएं आसन-व्यायामादि करते हुए

अन्तर्राष्ट्रीय योग-दिवस कार्यक्रम में बालक-बालिकायें योगासन करते हुए

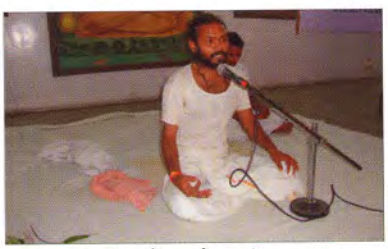

ब्रह्मचारी कौशलदेव जी महाराज योग विषय पर विचार प्रस्तुत करते हुए

ब्र0 कौशलदेव जी योगार्थियों को आसन-प्राणायाम की क्रियायें बतलाते हुए

ब्र0 कौशलदेव जी योगासनों की प्रक्रिया को दिखलाते हुए

प्रधान श्रीमती तारा शर्मा एवं आर्यसमाज इन्द्रपुरी के अधिकारी योगासन करते हुए

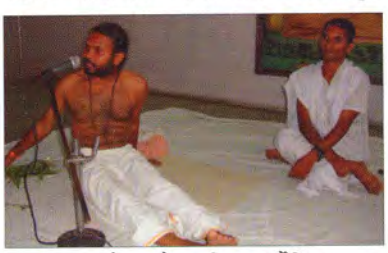

ब्र0 कौशलदेव जी आयुर्वेदिक औषधियों के विषय में बतलाते हुए

करने का निष्फल यत्न करता है। बुद्धिमान् व्यक्तियों के क्रोध का गुवार निकल जाने पर वह क्षमा का रूप ग्रहण कर लेता है, परन्तु क्रोध को छिपाने से वह प्रायः बदले की भावना में परिणित हो जाता है। क्रोध को मन में रखकर पी लेने से कम समझदार व्यक्ति मन ही मन कुढ़ता है, जिससे उसके स्वास्थ्य पर घातक प्रभाव पड़ता है। क्रोध को पी जाना अच्छा है, परन्तु यह अत्यन्त समझदार और सज्जन पुरुषों का काम होता है। वे इस बात से प्रभावित होते हैं कि मनुष्य को शत्रुता मोल लेने और दूसरों की गलतियों एवं अपराधों का लेखा रखने के लिए ही जीवन प्रदान नहीं किया गया। सुधार और नियन्त्रण के लिए क्रोध आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी होता है। उस अवस्था में वह विकारों से नहीं, अपितु उच्च भावना, हित भावना से प्रेरित और शासित रहता है। वैर, द्वेष, बदले की भावना और अन्य निम्न विकारों से प्रेरित होने पर वह दोष पूर्ण बन जाता है। सुधार और हित से प्रेरित सकारण क्रोध में पूर्ण सामर्थ्य का होना आवश्यक है, तभी उसकी उपासना देयता होती है। इसके लिये क्रोध आत्मिक गुणों से तेजमय बनना चाहिये।

निर्बलों, असहायों, रोगियों, गुरुजनों, बूढ़ों, बच्चों और स्त्रियों पर क्रोध करने से बचना चाहिये, वा क्रोध को पूर्ण नियन्त्रण में रखना चाहिए।

बाली वध के पश्चात् राज्य पा लेने पर सुग्रीव भोग-विलास में निमग्न होकर सीता जी की खोज के कार्य को भूल गया। लक्ष्मण उसकी कृतघ्नता का दण्ड देने के लिये किष्किन्धापुरी गए। जब सुग्रीव को अपने भृत्यों से यह पता लगा कि लक्ष्मण ने रौद्र रूप धारण कर रखा है, तो वह बहुत डरा और लक्ष्मण के सामने आने का उसका साहस न हुआ। उसने अपनी पत्नी तारा को लक्ष्मण का क्रोध शान्त करने के लिये प्रेरणा की। परन्तु वह स्वयं भी लक्ष्मण के सामने जाते डरी। और जब वह जाने से इन्कार करने लगी, तो सुग्रीव ने कहा –

"डरो मत। लक्ष्मण महान् पुरुष हैं। वे स्त्रियों पर कोप नहीं किया करते।"

तारा गई और तारा के सामने आते ही लक्ष्मण का क्रोध शान्त हो गया। बहुत से व्यक्ति अपने से निर्बल व्यक्तियों पर क्रोध निकाला करते हैं। यह उनकी बड़ी भारी भूल है।

सहनशील व्यक्ति को बहुत कम और बहुत देर में क्रोध आता है। ऐसे व्यक्तियों के क्रोध से बहुत सावधान रहना चाहिये। क्योंकि यह क्रोध भयङ्कर होने के साथ-साथ बहुत देर में शान्त होता है। सहनशीलता का दुरुपयोग होने पर यह बड़ी भयावनी आंधी का रूप धारण कर लेती है।

अंग्रेजों ने महारानी लक्ष्मीबाई के दत्तक पुत्र को राज्याधिकार से वंचित किया। महारानी इस अन्याय को सहन कर गई। इतना होने पर भी डलहौजी ने रानी का राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिया। इस अत्याचार पर भी वे मौन रही। महारानी ने अपने दत्तक पुत्र के उपनयन संस्कार के लिये, उसके लिये सुरक्षित छः लाख रुपये में से एक लाख रुपये की मांग की। दुष्ट अंग्रेज

शासकों ने इस राशि को देने से इन्कार कर दिया। रानी ने आग्रह किया तो उस राशि को देने को यह शर्त रखी गई कि यदि कोई महाजन अपनी जमानत देने को उद्यत हो, तो यह राशि दी जा सकती है। रानी ने अपमान की यह घूंट भी शान्तिपूर्वक पी ली। जमानत दी गई और रानी ने राशि प्राप्त करके अपने प्यारे पुत्र का उपनयन संस्कार किया। रानी उस समय तक भी अपनी सहनशीलता का परिचय देती हुई अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान् रही। परन्तु जब कुचक्रियों के षड्यन्त्र और शासकों की अदूरदर्शिता के कारण यह देवी राज विद्रोही घोषित कर दी गई, जबकि उन्होंने अंग्रेजी स्त्री-बच्चों को अपने महल में शरण देकर उनकी प्राण रक्षा की थी, तब उनकी सहनशीलता का बांध टूटते देर न लगी, और उन्होंने जो भयङ्कर रूप धारण किया, वह इतिहास के प्रत्येक व्यक्ति को ज्ञात है। जिन महापुरुषों और वीरांगनाओं ने अंग्रेजी दासता से भारत को मुक्त कराने में सत्प्रयत्न किये एवं अपने रक्त से स्वराज्य भवन की नींव पक्की की, उनमें **लक्ष्मीबाई का नाम मूर्धन्य स्थिति रखता है।**

क्रोध का सामना क्रोध से न करना चाहिये। ऐसा न करने से क्रोध शान्त होने के स्थान में बढ़ता है, घटता नहीं। मीठे और कोमल शब्दों से क्रोध सहज ही शान्त हो जाता है। कहावत है कि कोमल वचन पत्थर को पिघला देते हैं। विलम्ब क्रोध की सर्वोत्तम दवाई मानी जाती है। जब मनुष्य स्वयं क्रोध का शिकार होने लगे, तो उसे ठण्डा पानी पीना चाहिये, वा दस तक गिनती गिन लेनी चाहिये। यदि क्रोध चढ़ता जाये, तो सौ तक गिनती कर लेने से क्रोध शान्त होने लगता है। क्रोध से पागल हो जाने पर मनुष्य को यह सोचना चाहिये कि मेरे क्षणभर के क्रोध से मेरा पूरा का पूरा सप्ताह वा अधिक समय अशान्त बना रह सकता है। मेरा जीवन क्षणभंगुर है। परमात्मा मेरे इस अवाञ्छनीय व्यवहार को देख रहा है, जो मुझ से रुष्ट हो जायेगा।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक महर्षि दयानन्द जब गुरु विरजानन्द जी के यहां पढ़ते थे, तब वे एक दिन किसी अपराध पर दयानन्द से रुष्ट होकर उन्हें पीटने लगे। विद्यार्थी महर्षि दयानन्द जी ने गुरुदेव के क्रोध को शान्त करने के लिये कहा -

"महाराज ! क्षमा करें, मुझे पीटते हुए आपके हाथों को कष्ट हो रहा होगा।" ज्यों ही दयानन्द के मुख से ये शब्द निकले, त्यों ही गुरुदेव का क्रोध पानी-पानी हो गया।

नादिरशाह की क्रोधाग्नि में देहली जल रही थी। बड़े भयङ्कर रूप में कत्लेआम जारी था। हताहतों के करुण-क्रन्दन और चीत्कार से आकाश भी रो रहा था। नादिरशाह के खूनी-सैनिक लोगों के रक्त से दिल खोलकर फाग खेल रहे थे।

निस्सहाय मुगल सम्राट मुहम्मद शाह रनवास में पड़ा हुआ अपनी बेबसी का मरसिया पढ़ रहा था। नादिरशाह के हुक्म पर वह बाहर लाया गया और सिर झुका कर नादिरशाह के पास बैठा।

हस्मसरा में विलास करनेवाले बादशाह को नादिरशाह अविनय पूर्ण बातें सुनने को मिलीं, पर मजाल न थी कि जुवान खोल सके। उसे अपनी ही जान के लाले पड़े थे। पीड़ित प्रजा की कौन रक्षा करे। वह सोचता था कि – मेरे मुंह से कुछ शब्द निकले और वह मुझी को डांट बैठे तो ?

अन्त में जब सेना की पैशाचिक क्रूरता पराकाष्ठा को पहुंच गई, बादशाह के बजीर से न रहा गया। वह जानपर खेलकर नादिरशाह के सामने पहुंचा और उसने यह शेर पढ़ा –

कसे न मांद कि, दीगर बतेगे नाज कुशी।
मगर कि जिंदा कुनी, खल्करा बवाज कुशी॥

अर्थात् – तेरी निगाहों की तलवार से कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दों को फिर से जिलाकर कत्ल कर।

शेर ने दिल पर चोट की। पत्थर में भी सूराख होते हैं। पहाड़ों में भी हरियाली होती है। पाषाण हृदयों में भी रस होता है। इस शेर ने पत्थर को पिघला दिया। नादिरशाह ने सेनापति को बुलाकर कत्लेआम बन्द करने का हुक्म दिया। एकदम तलवार म्यान में चली गई। कातिलों के उठे हुए हाथ उठे ही रह गये। जो सिपाही जहां था, वहीं बुत बन गया।

संसार में लोगों के दिलों पर शान्ति और अक्रोध का शासन हुआ करता है। शान्त और चरित्रवान् व्यक्तियों को ही सुख और आदर प्राप्त होता है। वे व्यक्ति धन्य हैं, जो क्रोध को रोककर शान्ति का प्रसाद देते हैं। ❑

स्त्री-धर्म (सेवा और नम्रता)

महात्मा गांधी

सेवा और नम्रता स्त्रियों के सहज प्राप्त अधिकार हैं। भारत में ये दोनों आदर्श स्त्रियों के जीवन को उन्नत कर रहे हैं, जबकि पश्चिम में, खासतौर पर शिक्षित-वर्ग में, इन आदर्शों को तिलाञ्जलि दे दी गयी है, और वहां स्वतन्त्रता तथा समानता आदर्श बन गयी है। यह किसलिये ? सच्ची सेवा गुलामी नहीं, परन्तु स्वतन्त्रता ही है। सच्ची नम्रता में असमानता नहीं, परन्तु समानता ही होती है। हां कई बार सेवा गुलामी बन जाती है और नम्रता दीनता बन जाती है। परन्तु इससे अपनी संस्कृति के उदात्त आदर्श छोड़कर पाश्चात्य आदर्श ग्रहण करने की कोई जरूरत नहीं। उल्टे हम अपने आदर्शों के योग्य बनने का प्रयत्न करें और जितनी मात्रा में हमारा यह प्रयत्न होगा, उतनी ही मात्रा में हमारा जीवन पवित्र और स्वार्थत्यागी बनेगा। पश्चिम में स्वतन्त्रता अक्सर स्वच्छन्दता और स्वार्थ परायणता में बदली हुई पायी जाती है। और समानता भयङ्कर प्रतिस्पर्धा में बदली हुई देखी जाती है। पश्चिम में जो असन्तोष और अशान्ति आज जहां-जहां नज़र आती है, उसका कारण यह मालूम होता है कि स्त्री-पुरुष अपने-अपने धर्म को भूलकर प्रतिस्पर्धा में उतर आये हैं। स्त्री स्वधर्म छोड़कर पुरुष का धर्म अपनाकर आत्मदर्शन प्राप्त नहीं कर सकती; केवल सेवा और नम्रता का सहज प्राप्त अधिकार अपनाकर के ही कर सकती है।

आजकल स्त्रियों को पुरुषों जैसी ही शिक्षा दी जाती है। यह मुझे तो मूल में ही भूल भरी प्रतीत होती है, और उसमें विचित्र अशास्त्रीय लगती है। उसे उसके स्वभाव और स्वधर्म के अनुकूल ही शिक्षा दीजिये। उसे पुरुष का प्रतिस्पर्धी बनायेंगे, तो समाज की जड़ें उखड़ जायेंगी, जैसा पश्चिम में हो रहा है। ❑

धर्म का प्रमुख सोपान "शौच"

तारा शर्मा
प्रधान - धर्म संवर्द्धिनी सभा (दिल्ली)

मनु महाराज ने धर्म के दश लक्षणों में **"शौच"** शब्द को पांचवें स्थान पर रखते हुए इस शब्द की महत्ता को भी स्वीकार किया है। वास्तव में यदि सब कुछ योग्यतायें हमारे जीवन में हो, पर यदि शौच नहीं हो,तो फिर अन्य लक्षणों का कोई बहुत बड़ा महत्त्व नहीं रह जाता। जैसे हम किसी वस्तु को स्वच्छ पात्र में रखते हैं, उसी प्रकार जीवन का आध्यात्मिक पक्ष को अथवा भौतिक-पक्ष, उसे लिये शौच शब्द की अत्यन्त महत्ता है। **शौच** शब्द का सीधा अर्थ है = **पवित्रता वा स्वच्छता।**

पर पवित्रता किसकी ? यह भी प्रश्न हमारे सामने जब-जब उपस्थित होगा, तो प्रायः उत्तर देनेवाला कहेगा कि पवित्रता वस्त्रों की, घर, गांव, शहर की। यह ठीक है कि ये सब पवित्रता का ही एक भाग हैं, परन्तु महर्षि दयानन्द जी ने इस पवित्रता को दो भागों में विभाजित किया है - **(1) बाह्य पवित्रता** और **(2) आन्तरिक पवित्रता।** बाह्य पवित्रता की ओर हमारा ध्यान स्वभावतः जाता है, और जाना भी चाहिये। जैसे-जैसे मनुष्य शिक्षित व सभ्य होता जाता है, वैसे-वैसे उसके रहन-सहन व व्यवहार में परिवर्तन होता है। शिक्षित मनुष्य के रहन-सहन का, खाने-पीने का ढंग अलग ही होता है। वह अपने प्रत्येक कार्य को बाह्य दृष्टि से पवित्र-भाव से करना चाहता है। पर शिक्षित व सभ्य माने जानेवाले लोगों में भी प्रायः यह भी देखा जाता है कि वे अपना घर स्वच्छ रखना तो कर्त्तव्य समझते हैं, पर अपने घर के कूड़े-कचरे को कहां पर फैंका जाय, इस कर्त्तव्य के प्रति कोई विशेष चिन्ता नहीं करते। आपने अनेकों ऐसे परिवार देखे होंगे, जिनके सदस्य घर के कूड़े-कचरे को गली में, सड़क पर अथवा पार्कों के किसी कोने में फैंककर अपने कार्य की इति-श्री कर लेते हैं। जब आप उनके घर को देखेंगे, तो उनका घर साफ-सुथरा दिखाई देगा; पर जब आप उनकी कॉलोनी अथवा मोहल्ले की सड़कों व पार्कों को देखेंगे तो आपको नाक-मुंह सिकोड़ने को मजबूर होना पड़ेगा। यदि आपने कॉलोनी की सफाई के विषय में उनसे कुछ पूछ लिया, तो वे सीधा सरकार को अथवा नगर-पालिका के कर्मचारियों को दोष देते हुए कहेंगे - "साहब ! आप किसी भी पार्टी को वोट देकर सत्ता में पहुंचा दो, पर किसी को भी आम-जनता की चिन्ता नहीं, सब अपनी-अपनी राजनीति व स्वार्थ की चिन्ता करते हैं।"

हो सकता है कि उनका यह आंकलन किसी सीमा तक सही हो, पर क्या उन्होंने यह भी सोचा है कि सरकार जो करेगी वह करेगी, पर क्या बिना समाज के लोगों की भागीदारी के

सरकार किसी कॉलोनी वा मोहल्ले की स्वच्छता रख सकती है ? नहीं। यह तब ही सम्भव है कि सरकार के कर्मचारी जिनकी सफाई की जिम्मेदारी है, वे उस जिम्मेदारी को पूर्ण करें, पर दूसरी ओर कॉलोनी व मोहल्ले में रहनेवाले सभी नागरिक भी अपने घर की पवित्रता व स्वच्छता की भांति अपनी कॉलोनी की चिन्ता करें। इस कार्य में छोटे से लेकर बड़े सदस्य तक सबकी जिम्मेदारी बनती है, इस जिम्मेदारी से कोई बच नहीं सकता।

भारत के प्रधानमन्त्री श्री नरेन्द्र मोदी जी ने शायद इसी भागीदारी को ही दृष्टि में रखकर स्वच्छता-अभियान का जो सन्देश दिया, उसमें उन्होंने यही कहा कि - "सरकार की जितनी जिम्मेदारी स्वच्छता की है, उससे भी अधिक जिम्मेदारी इस देश में रहनेवाले प्रत्येक नागरिक की है।" उनके इस आह्वान पर जैसे-जैसे समाज के लोगों की चेतना जागृत हुई है, वैसे-वैसे कुछ परिवर्तन आज दिखाई दे रहे हैं। अतः यह सुनिश्चित है कि पवित्रता व स्वच्छता में जब तक आबाल वृद्ध नर-नारी का योगदान नहीं होगा, तब तक पवित्रता को कायम रखना असम्भव ही है।

पवित्रता के इस पक्ष को हम बाह्य-पक्ष का नाम दे सकते हैं। बाह्य-पक्ष अच्छा हो, सुन्दर हो, पवित्र हो, इसे कौन नहीं चाहता ? इसे प्रत्येक नागरिक को चाहना भी चाहिये, पर इससे भी अधिक महत्त्वशाली है - **"आन्तरिक पक्ष"।** यह पक्ष दिखाई नहीं देता, पर इसका जीवन में बहुत बड़ा महत्त्व है। अब प्रश्न है कि आन्तरिक पक्ष से अभिप्राय आप क्या शरीर की शुद्धि, घर की अथवा घर के पदार्थों की शुद्धि से लेते हैं, तो इसका उत्तर **"ना"** में ही आयेगा ? क्योंकि ये सब स्वच्छता-पवित्रता बाह्य शुद्धि का ही एक भाग है। **आन्तरिक शुद्धि का अभिप्राय है - मन की पवित्रता, बुद्धि की पवित्रता और आत्मा की पवित्रता।** इन बिन्दुओं पर आज प्रायः कोई भी ध्यान देना नहीं चाहता। अपवाद में लाखों-करोड़ों में कोई ऐसा दिखाई देगा, जिसने अपने मन-बुद्धि और आत्मा की पवित्रता पर ध्यान दिया हो, पर जन-सामान्य में इन तीनों के प्रति उदासीनता का भाव पूर्णतः देखा जाता है। विद्वानों और सन्त जनों का कथन है कि - **"जब तक मन-बुद्धि-आत्मा की पवित्रता का ध्यान मनुष्य नहीं रखेगा, आप कितनी भी बाहर की शुद्धि कर लीजिये, उससे बहुत कोई बड़ा लाभ नहीं होगा।"** इसका अभिप्राय यह हुआ कि इनकी ओर भी ध्यान देना चाहिये। यदि इनकी ओर ध्यान न दिया गया, तो शौच अपूर्ण ही रह जायेगा, और अपूर्ण शौच कभी भी धर्म का सोपान नहीं बन सकता।

वर्त्तमान समय में हमारे मनों में इतनी अपवित्रता आ गई है कि आज हम किसी पर भी पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते। आज हमारे मनों में छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष का इतना मैल जम चुका है कि आज हम सब प्रत्येक समय इस आशंका से ग्रसित रहते हैं कि कोई हमें धोखा न दे दे। आज अपराधों की जो बाढ़ आ रही है, उसका सीधा कारण मन का अपवित्र होना ही है। अरे ! जहां पिता-पुत्री के, भाई-बहिन के,

पड़ौसी-पड़ौसी के, चाचा-ताऊ, मामा आदि के सम्बन्ध चरमरा रहे हों, तो फिर हम और आप कहां सुरक्षित रह सकेंगे ? किसी भी व्यक्ति से पूछिये, क्या आपको अपने भाईयों, रिश्तेदारों, व किसी अन्य लोगों से डर तो नहीं लगता ? तो वह कहेगा - साहब ! आज ग़ैरों की अपेक्षा अपनों से ज़्यादा डर लगता है। आज महिलायें, छोटी-छोटी बच्चियां घर वा बाहर कहीं पर ही सुरक्षित नहीं। इसका सबसे बड़ा कारण है - **मन की अपवित्रता, मन का प्रदूषित होना।**

आज समाज में रहनेवाले मनुष्यों के मन अपवित्रता से भरे देखे जा सकते हैं, तो फिर समाज के अस्तित्व को आप कैसे बचा सकेंगे ? विद्वानों का कथन है कि - **"पशुओं का समूह 'समज' कहलाता है और मनुष्यों का समूह 'समाज' कहलाता है।"** पशु एकत्रित होकर बैठ सकते हैं, पर मिल-जुलकर समझदारी से कोई कल्याण के कार्य की योजना नहीं बना सकते और न कर सकते हैं। मनुष्य एकत्रित होकर बैठ भी सकता है और समझदारी व विवेक से कल्याणकारी कार्य भी कर सकता है। पर जब मनुष्य-समाज का मानसिक वातावरण विकृति की चरम अवस्था पर पहुंच जाये, तो हमारे मनों में क्या यह विचार नहीं आता कि हमसे तो पशु ही अच्छे हैं ? वे 'समज' के रूप में इकट्ठे होकर बैठ सकते हैं, रह सकते हैं, पर कोई विकृत-कार्य नहीं कर सकते। दूसरी ओर हम सब मनुष्य विकृतभाव की इस सीमा तक पहुंच चुके हैं कि अब हमें यह भी सोचने को मजबूर होना पड़ रहा है कि - हम मनुष्य हैं अथवा पशु ? इन सब विकृतियों का कारण जब आप और हम ढूढ़ने का प्रयत्न करेंगे, तो हमें मानसिक अपवित्रता की मूल कारण के रूप में दिखाई देगी। जब मन विकृत होता है, तो फिर बुद्धि का विकृत होना स्वाभाविक है। मन का प्रभाव बुद्धि पर पड़ता है और बुद्धि का प्रभाव आत्मा पर। तब हम यह आंकलन अवश्य कर सकते हैं कि मन के विकृत होने से सब कुछ विकृत हो जाता है, मन के अपवित्र होने से सब कुछ अपवित्र हो जाता है। शायद यही कारण है कि हमारे ऋषि-मुनियों ने जब शौच शब्द पर विचार किया होगा, तो उनका ध्यान दोनों पक्षों की ओर गया होगा। बाहर की पवित्रता व्यर्थ नहीं, पर वह पवित्रता तब ही सार्थक होगी, जब आन्तरिक पवित्रता भी विद्यमान हो।

कल्पना कीजिये, घर में कोई पुरुष वा स्त्री वस्त्रों से, शरीर से अपने को पूर्णतः पवित्र रखने का प्रयत्न करे, पर वह अन्य सदस्यों के प्रति व्यवहार छल-कपट और ईर्ष्या आदि दोषों से युक्त होकर करे, तो क्या ऐसे सदस्य के प्रति आपकी श्रद्धा रहेगी, क्या आप ऐसे व्यक्ति का निरन्तर सम्मान करते रहेंगे, क्या आप ऐसे व्यक्ति के दुर्गुणों को स्वीकार करने का प्रयत्न करेंगे ? यदि नहीं, तो इससे स्पष्ट है कि बाह्य पवित्रता तब ही सुन्दर लगती है, जब मन-बुद्धि और आत्मा पवित्र हों। इस पवित्रता को प्राप्त करने के लिये हमें विशिष्ट प्रयत्न करना पड़ेगा। और यदि यह प्रयत्न सफल हो गया, तो फिर हमारे धार्मिक बनने में कोई भी सन्देह नहीं। भारतीय मनीषी विचारकों ने बाह्य व आन्तरिक

पवित्रता को प्राप्त करने के लिये कुछ साधन बतलाये हैं, मनुष्य यदि उनका पालन करे तो वह धर्म के इस सोपान से जहां धर्म के पांचवें लक्षण को सार्थक करेगा, वहां वह धार्मिक अवश्य बन जायेगा। सन्त-महात्माओं का कथन है कि - **'विद्वान् बनना आसान है, पर धार्मिक बनना नहीं।'** उसका स्पष्ट कारण यह है कि विद्याध्ययन करके अथवा ग्रन्थों के ज्ञान को प्राप्त करके विद्वान् बना जा सकता है, पर जब तक धर्म जीवन में आचरण के रूप में स्थापित न होगा, तब तक मनुष्य धार्मिक नहीं बन सकता। आज हमने धर्म को पूजा-पाठ, दान-पुण्य तक ही सीमित कर लिया है। ये गुण धर्म के सहायक तो हैं, पर धर्म नहीं। धर्म वही है जिसे मनु महाराज ने **धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध** के गुणों को जीवन में धारण करने की बात कही है। जिसका जीवन धर्म के गुणों से युक्त हो, वही धार्मिक कहला सकता है।

मनु महाराज ने अपने मानव-धर्मशास्त्र में शौच के सन्दर्भ में जो प्रमुख साधन बतलाये गये हैं, वे निम्न हैं -

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

(मनु0 5/109)

अर्थात् - जल से शरीर की, सत्य से मन की, ज्ञान से बुद्धि की और विद्या तथा तप से आत्मा की शुद्धि होती है।

शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की पवित्रता के जो साधन महर्षि मनु जी ने इस श्लोक में बताये हैं, इनसे सरल, स्पष्ट और संक्षिप्त साधन अन्य और कोई नहीं हो सकते।

महर्षि मनु स्पष्ट लिखते हैं कि शरीर की शुद्धि जल से होती है। वस्त्र की शुद्धि हो अथवा घर की शुद्धि हो, बिना जल के असम्भव है। इसी प्रकार शरीर में जमे हुए उदरस्थ-मल को निकालने का साधन भी जल ही है। प्राकृतिक चिकित्सा के विद्वान् जन मिट्टी और जल के प्रयोगों के द्वारा अनेकों प्रकार के शारीरिक रोगों को दूर कर देते हैं। उनका कथन है कि - जल का उपयोग यदि मनुष्य सीख जाये कि जल कब, कहां और कितनी मात्रा में पीना है, तो मनुष्य 90% रोगों को स्वयं ही दूर कर सकता है। इसलिये आयुर्वेद में जल को भेषज = औषधि कहा है। अतः शारीरिक शुद्धि का साधन जल ही है, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं।

मन की शुद्धि के लिये साधन है - सत्य। सत्य का सीधा अर्थ है - जैसा है वैसा जानना, वैसा मानना और वैसा ही कथन करना। जब मनुष्य यथार्थता में जीने की कोशिश करेगा, तब कहां रहेगा उसके मन में छल-कपट, और कहां रहेगी ईर्ष्या-द्वेष का मैल ? जब ये दुर्गुण मन के समीप ही नहीं आयेंगे, तब फिर मन अपवित्र कहां से होगा ? पर उस अपवित्रता को दूर करने के लिये हमें सद्ज्ञान-सद्ग्रन्थों और सद्विद्वानों का सहारा लेना पड़ेगा। इस प्रकार के आचरण से आप और हम अपनी बुद्धि व मन को पवित्र बना सकते हैं। इसलिये कई विचारक मन और बुद्धि की इतनी अधिक समीपता स्वीकार करते हैं, जैसे दूध में मिला हुआ घृत। कारण मन विचारों

का व्यापार करता है और बुद्धि निर्णय का। इन दोनों के कार्य इतनी तीव्रता और सन्निकटता से होते हैं कि हम इनके कार्यों को अलग-अलग करने में कभी-कभी अक्षम हो जाते हैं।

प्रायः समस्त विद्वानों की मान्यता यह है कि - **"जैसा विचार मन में होगा, वैसी बुद्धि होगी; अथवा जैसी बुद्धि होगी, मन का विचार वैसा ही होगा।"** इसका अर्थ यह निकला कि सत्य और ज्ञान को जीवन से जब जोड़ा जाता है, तभी मन और बुद्धि की पवित्रता विद्यमान होती है, और जब मन-बुद्धि जिस प्रकार के होंगे तो उसी प्रकार से आत्मा संस्कारित होगी; क्योंकि मन-बुद्धि के आदेश का पालन समस्त इन्द्रियां करती हैं। इन्द्रियों के द्वारा जो भी कर्म किया जाता है, उसका फल आत्मा को प्राप्त होता है; और केवल फल ही प्राप्त नहीं होता, वरन् उस कर्म का संस्कार भी उस मनुष्य के आत्मा पर होता है जिस कर्म को वह कर रहा है। जिस संस्कार से युक्त आत्मा होगा, ईश्वरीय व्यवस्था से जन्म-मरण, भोग-मोक्ष आदि फल वैसा ही जीवात्मा प्राप्त करता है। इसलिये शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य जीवन सार्थक करने के लिये मनुष्य को धर्म का पालन करना चाहिये। धर्म इस लोक में भी सहायक है और परलोक में भी। अन्य सब भौतिक पदार्थ शरीर के नष्ट होने के साथ यही रह जायेंगे, केवल धर्म ही ऐसा है जो हमारे संस्कार के रूप में सूक्ष्म शरीर के साथ जायेगा। इसलिये धर्म की महत्ता बतलाते हुए किसी कवि ने कहा है -

धनानि भूमौ पश्वश्च गोष्ठे
नारी गृहद्वारे जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोक मार्गे
धर्मानुगोगच्छति जीव एकः॥

धन धरा के बीच ही सारा गढ़ा रह जायेगा। पशु भी बंधे रह जायेंगे जब मौत का दिन आयेगा। नारी घर के द्वार तक ही साथ देगी लोक में। मित्र दल मरघट से आगे मुंह नहीं दिखलायेगा। देह भी तेरी चिता के बीच जल-भुन जायेगी। तू बता परलोक में फिर साथ किसका पायेगा। मृत हुए पश्चात् तेरा मुख्य साथी एक है। धर्म ही संसार से बस साथ तेरे जायेगा। इसलिये हे मनुष्य ! जग में धर्मधन तू जोड़ ले। नित्य ही शुभकर्म कर, नहीं अन्त में पछतायेगा॥

अतः मनुष्य को धर्म का पालन अवश्य करना चाहिये। धर्म के लक्षण "शौच" शब्द पर यदि विचार किया जाये, तो निष्कर्ष के रूप में यह अवश्य कहा जा सकता है कि मनुष्य-जीवन को श्रेष्ठ व धार्मिक बनाने के लिये जहां मनु महाराज के बतलाये अन्य गुण अत्यन्त लाभकारी हैं, वहां शौच के महत्त्व को भी किसी भी प्रकार से नकारा नहीं जा सकता। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि अपने जीवन में आन्तरिक और बाह्य शुचिता का विशिष्ट ध्यान रखते हुए शौच के सोपान कर चढ़ने का प्रयत्न करे, जिससे वह धर्मरूपी रथ पर बैठकर मुक्ति प्राप्त कर सभी कष्ट-सन्तापों से पृथक् होकर परमात्मा के पूर्णानन्द को प्राप्त कर आवागमन के चक्र से मुक्त हो सकें। ❑

धर्मो रक्षति रक्षितः

महन्त अवेद्यनाथ
सन्त शिरोमणि

परमात्मा को साक्षात् धर्मविग्रह कहा गया है। इसलिए यह वेदसम्मत और लोकसम्मत मत है कि सत्यदृष्टा हमारे ऋषियों ने अपनी स्मृतियों को पुण्याचरण, धर्माचरण से अभिमन्त्रित कर धर्म की मर्यादा अथवा गरिमा का संरक्षण किया। जिस तरह परमात्मा सनातन है, उसी तरह हमारा धर्म सनातन धर्म है। हमारा धर्म अव्यय, अविनाशी, सत्य, शाश्वत तथा नित्य है। धर्म का सही रूप से पालन करनेवाला मनुष्य देवकोटि में प्रतिष्ठित होता है। धर्म का उद्देश्य मानव-जीवन का कल्याण करना ही नहीं, बल्कि पूरे विश्व के लोगों को एक सूत्र में बांधना है। यह धर्मसापेक्षता ही धर्मनिरपेक्षता का सद्भाव है। हमारे धर्मशास्त्र का उद्घोष है कि यदि धर्म की रक्षा की जाती है, तो धर्म रक्षक की रक्षा करता है, धर्म भाव का नाश करने पर नष्ट धर्म महान् विनाशकारी होता है -

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः॥

(मनु0 8/15)

हमारे धर्माचार्यों और मठाधीशों का यह कर्त्तव्य है कि हिन्दुओं को एकसूत्र में बांधकर हिन्दूधर्म भारतीय सनातन धर्म की सर्व कल्याणकारी गरिमा से राष्ट्र की अखण्डता और राष्ट्रीय एकता का संरक्षण कर समस्त विश्व को धर्म का वास्तविक बोध प्रदान कर सह-अस्तित्व, पारस्परिक सहिष्णुता को धर्म भावना से भावित कर विश्व में शान्ति स्थापित करें। ऐसा करने से ही हमारे सनातन धर्म की रक्षा हो सकती है। बिना धर्म वा धर्माचरण के जीवनयापन व्यर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति धर्म के विषय में जितना जानता है, उसका अपने जीवन में सदुपयोग करना चाहिए, सम्प्रयोग करना चाहिए।

धर्म की व्यवस्था न केवल मुक्तिलाभ के लिए, अपितु समाज को संगठित एवं अनुशासित करने के लिए ही गयी थी। धर्म का लक्षण जोड़ना है, तोड़ना नहीं। यदि धर्म से हिन्दू जाति कमजोर होती है, तो वह धर्म हमारा धर्म नहीं है, उसमें सुधार करना होगा। रूढ़िवादी संकीर्ण विचारों को छोड़कर उदार एवं व्यापक दृष्टि अपनानी पड़ेगी, अन्यथा आज का बहुसंख्यक हिन्दू अल्पसंख्यक हो जायेगा। वैदिक वर्ण-व्यवस्था में यदि शूद्र को पाद से उपमेय किया गया है (परमात्मा के विराट्स्वरूप निर्वचन में) तो हमें समझना चाहिए कि मनुष्य का सिर पैर की ओर ही झुकता है। पैर के बिना मनुष्य खड़ा भी नहीं रह सकता है।

हमारे अविवेक के कारण कुछ लोग धर्म-परिवर्तन का कुचक्र चलाते हैं। धर्मशास्त्रों में कहीं भी छूतछात ही चर्चा नहीं है। आज

आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की रक्षा के लिए उसमें व्याप्त रूढ़ियों एवं संकीर्णताओं को दूर कर सभी जातियों के साथ समान व्यवहार किया जाय और देश की अखण्डता और राष्ट्रीय एकता को स्थिर रखा जाय।

हिन्दू धर्म में विचार-स्वातन्त्र्य सदा से रहा है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत मत-मतान्तरों के बावजूद सभी का मूल स्रोत वेद ही है। धर्म उस कड़ी का नाम है, जिसमें जनसमाज की प्रत्येक इकाई सम्बद्ध होकर सुगठित एवं शक्तिशाली होती है। सुगठित समाज के अभाव में धर्म की रक्षा सम्भव नहीं है। आज के युग में लोग बाह्य आचरण को धर्म समझने लग गए हैं। धर्म में छूआछूत की कुरीतियों के लिये कोई स्थान नहीं है, फिर भी हिन्दू जाति का एक अविभाज्य अङ्ग अलग होकर धर्मान्तरण के लिए विवश हो रहा है। निश्चय ही यह भी विषय हम सभी के लिए विचारणीय एवं चिन्ताजनक है। पुरानी रूढ़ियों को दूर करना होगा।

सद्धर्म वही है, जिसमें लोक-परलोक दोनों की प्राप्ति सम्भव हो सके। सामाजिक संगठन हमारा महान् धर्म है, जिसे दृष्टि में रखकर कुम्भ जैसे विशाल मेले का पर्व मनाया जाता है, जिसके परस्पर सम्मिलन से हमारे समाज का संगठन सुदृढ़ एवं शक्तिशाली बन सके। बदरिकाश्रम आदि महान् तीर्थों में सम्पूर्ण भारत के नागरिक बड़े उत्साह से पुण्यलाभ के लिए जाते हैं। सभी विभिन्नतायें वहां उपस्थित होती हैं, फिर भी वहां अखण्ड एकता की अनुभूति होती है। पतितपावनी कलिमलहारिणी गङ्गा का जल तो एक ही है। करोड़ों-करोड़ों लोगों को उसी पवित्र पीयूष में डुबकी लगाने की चिराकांक्षा रहती है। मैं देखते-देखते हर्षोल्लास से विह्वल होकर सोचने लगता हूं कि गङ्गाजल की भांति हम सबका आराध्य एक हृदय और हमारा विशाल भारत एक ही है।

साधु-संन्यासी जन राष्ट्रीय अखण्डता के लिए समस्त सम्भावित संकटों पर गम्भीर विचार कर उसके व्यावहारिक क्रियान्वयन में दत्तचित्त रहते हैं। इसी एक पवित्र भावना एवं महान् कर्त्तव्य-बोध से आप्लावित होकर हम लोग सचेत दृष्टि से निरन्तर संघर्षशील हैं। मैं स्वीकार करता हूं कि राष्ट्र की रक्षा के लिये ही हमारी नियुक्ति है। हमारा उत्तरदायित्व और गम्भीर कर्त्तव्य है कि जब हमें पुनः पराधीन करने के षड्यन्त्र चल रहे हैं, हम लोग राष्ट्र, धर्म, समाज और संस्कृति की रक्षा में तत्पर हो सकें।

हमारा आज एक वर्ग चौराहे पर खड़ा होकर सोच रहा है कि हम अछूत समाज का त्याग कर ऐसे समाज से नाता क्यों न जोड़ लें, जहां हमें कोई अछूत न कहे। शूद्र वर्ण का वह व्यक्ति भिन्न मतावलम्बी होकर हमारे साथ नहीं रहना चाहता है। धर्मान्तरण से निरन्तर हिन्दुओं की संख्या घट रही है, यह सब हमारी संकीर्ण क्षुद्र मनोवृत्तियों के कारण ही हो रहा है। विदेशी मिश्नरियां अपने धर्म के प्रति सहृदयता उत्पन्न कर शूद्रों की विवशता का लाभ उठा रही हैं, उनका धर्मान्तरण कर रही हैं। ऐसे भयानक

समय में छूआछूत-अस्पृश्यता मिटाने के लिए हम कृत-संकल्प हैं। मैं पूर्णरूप से स्पष्ट करता हूं कि धर्मशास्त्र में अस्पृश्यता के लिए कही भी स्थान नहीं है। अस्पृश्यता का आधार निर्धनता नहीं होना चाहिए। धर्म की गङ्गा तभी प्रवाहित रहेगी और मन्दिर-मठ आदि तभी अस्तित्व में रहेंगे, जब तक हिन्दुत्व, हिन्दूधर्माचरण, हिन्दू धर्म की शक्ति मजबूत है। हमारा धर्म तो इतना उदार है कि गौतम बुद्ध, महावीर को, जिन्होंने ईश्वर को भी नहीं माना, हमने भगवान् कहकर सम्मान दिया। इसलिये मैं नौजवानों का आह्वान करता हूं कि स्वदेश तथा स्वधर्म की रक्षा हेतु एवं अस्पृश्यता को दूर करने के लिये वे सक्रिय रूप से काम में लग जायें। हमारे देश में लोकतन्त्र, धर्मनिरपेक्षता व समाजवाद तभी तक है, जब तक हिन्दुओं का बहुमत है।

जिस कार्य को करने में सन्तुष्टि होती है तथा किसी प्रकार का पश्चात्ताप नहीं होता है, वही धर्म है। धर्म अपने आप में परमात्मा की तरह स्व-संवेद्य तथा निज अनुभव का सद्ज्ञान है। धर्म के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं प्रमाणित है। धर्म मनुष्य का ही कल्याण नहीं करता है, वरन् सारे विश्व के लोगों को एक सूत्र में बांधता है।

सत्यादि धर्म शाश्वत हैं, सार्वकालिक मानवीय मूल्य हैं। संस्कृति, देश-काल और परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। दूसरे शब्दों में धर्म विचार हैं, तो संस्कृति आचार है। जीवन और जगत् के सम्बन्ध में हमारे विचार सत्य और सनातन नियमों पर आधारित हैं, किन्तु आचार-संहिता, देश-काल और परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। धर्म के सम्बन्ध में साधारण व्यक्ति को भ्रान्ति हो सकती है। इसलिए उनके लिए महापुरुषों का आचरण ही धर्मज्ञान का साधन है। बहुत काल से चले आने के कारण छूआछूत अनेक रूढ़ियां भी अज्ञान के कारण धर्म मानी जा रही हैं, धर्मशास्त्रों में ऐसा कोई भी विधान नहीं है। पवित्र जीवन का, स्वच्छता का विचार अवश्य है, किन्तु जन्म के आधार पर छूआछूत का नियम नहीं है। भगवान् श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं, उन्हें विग्रहवान् धर्म कहा गया है। धर्म की स्थापना के लिए जन्म लेनेवाले भगवान् राम यदि छूआछूत को भी धर्म मानते, निषादराज गुह हरिजन, गृद्ध जटायु एव वानर सुग्रीव और राक्षस विभीषण को गले कैसे लगाते, शबरी के झूठे बेर कैसे खाते?

यदि हम अपने महापुरुषों द्वारा, धर्म के सम्बन्ध में बहुत उधेड़बुन न करके प्रमाणित आचरण का ही पालन करें, तो न जानते हुए भी धर्म का पालन करेंगे। धर्म में मर्यादित जीवन ही पवित्र और श्रेयस्कर है। धर्म, श्रद्धा और विश्वास पर ही आधारित होता है। दर्शन, तर्क और प्रमाण पर प्रतिष्ठित है। यही दोनों का मौलिक अन्तर है। जब तक अन्तःकरण मलिन होता है, तत्त्वों का उपदेश करने के बाद भी ज्ञान नहीं हो सकता। अन्तःकरण के मल, विक्षेप और आवरण, तीन दोषों को प्रक्षालन करने के लिए धर्म-कर्म का निरूपण निदान किया गया है। जब दर्पण के समान मन निर्मल हो जाता है, तब और केवल तब उसमें तत्त्व का दर्शन सम्भव

होता है। हमारा यह शरीर इस भवसागर का बेड़ा है। चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद हमें यह आत्मोद्धार के लिए मिला है, लेकिन जन्म-जन्मान्तर के कर्म विपाक और संस्कारगत जीव की गति अन्धे के समान होती है, जो एक कोठरी में घूम रहा है। उपदेश ने उसे बाहर निकलने का रास्ता बता दिया है कि दीवार पर हाथ लगाए चारों तरफ घूम आओ, जहां अवकाश मिले, दरवाजा होगा, उससे बाहर निकल आओ। किन्तु यह उस अन्धे का दुर्भाग्य है, प्रारब्ध का वैचित्र्य है, कमरे में घूमा हुआ जब वह दीवार के पास पहुंचता है, उसके सिर में खुजली होती है और वह दीवार से हाथ हटाकर दरवाजे से आगे निकल जाता है। इस प्रकार मुक्ति से वंचित गति है।

बड़े भटकाव के बाद यह शरीर मिला है। हमें यह अवसर व्यर्थ नहीं खोना चाहिये अन्यथा फिर चौरासी लाख योनियों का चक्कर होगा। सब धर्माचार्यों ने, सब शास्त्रों ने भवरोग की महौषधि के रूप में इस धर्म का जो उपदेश दिया है, जो दर्शन दिया है, उसका आचरण कर हमें इस लोक में **अभ्युदय** और परलोक में **निःश्रेयस** की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये। हमारे देश के प्रबुद्ध मनीषियों ने शरीर प्राप्ति को धर्माचरण का साधन कहा है - **"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्"** और दर्शन को निःश्रेयस आधिदैविक, आधिभौतिक और आधिदैहिक दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का सोपान कहा है। धर्म और दर्शन के शिवात्मक कल्याण स्वरूप के अन्योन्याश्रय सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण ही हमारी भारतीय संस्कृति की गरिमा है, जो निःसन्देह सद्धर्माचरण प्रधान है। हिन्दूसमाज का धार्मिक दृष्टिकोण सदा उदार है। **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** उसका सदा आदेश रहा है। हमने वेद द्वारा मर्यादित पवित्र आचार-विचारों से मानवों को सद्धर्म का दृष्टिकोण दिया है। हमारी धर्म-भावना में वर्ण-विद्वेष का सर्वथा अभाव है और विश्व की समग्र मानवता ने हमसे जीवन-यापन की सत्प्रेरणा ली है। महर्षि मनु का कथन है -

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवा॥

हमारी स्वतन्त्रता और अस्मिता राष्ट्र की अखण्डता पर टिकी है। यदि हमारे अन्दर धर्म सद्भाव, सामाजिक एकता नहीं होगी, तो हमारी राष्ट्रीय एकता खतरे में पड़ जायेगी। अतीतकाल में पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत हमारी सम्पूर्ण धार्मिक-आध्यात्मिक चेतनामयी अभ्युदय निःश्रेयस साधिका विजयिनी संस्कृति, धर्म सद्भावना भावित रहन-सहन विविधतायें एकता उत्पन्न करते हुए राष्ट्र को गति प्रदान करती थीं।

वर्तमान में भी एकता के कृत्रिम उपायों विजातीय सोच-विचार को, तौर-तरीकों को छोड़कर इन्हीं आजमाये नुस्खों को अपनाना होगा। राष्ट्रीय एकता के लिए हिन्दूधर्म हिन्दुत्व ही वह आधार भूमि तैयार करता है, जिसमें सर्व धर्म समभाव, एकात्मता, साम्प्रदायिक, धार्मिक सहिष्णुता, उदार-उदात्त वरेण्य वृत्तियों का सद्भाव सम्भव है। ❐

राज-धर्म की महत्ता

भगवानशरण 'प्रदीप'
आगरा (उत्तर प्रदेश)

उस दिन **महाराज पुरञ्जय** की चालीस वीं जन्मगांठ थी। काश्मीर राज्य में खूब खुशियां मनाई गईं। चारों ओर वातावरण में आनन्द और उल्लास थिरक रहा था। प्रत्येक पुरवासी का हृदय उमङ्ग से बल्लियों उछल पड़ता था। घर-घर उत्सव मनाया गया। मङ्गल तोरणों और बन्दनवारों से सारा नगर भली प्रकार सजाया गया था। मध्याह्न में हाथी पर बैठकर महाराज नगर-यात्रा के लिए निकले। कुमारियों ने लाजा और अक्षत छोड़ी, कुल-वधुओं ने महलों के गवाक्षों से पुष्पों की वृष्टि की और वृद्धाओं ने नीरांजना की। राजा का रोम-रोम प्रजा के प्रेम को निरखकर आनन्द-विह्वल था। जनता उन पर अपना तन-मन-धन सर्वस्व न्यौछावर करती थी। करे भी क्यों न, आखिर उसने सौभाग्य जो पाया था ऐसे राजा को प्राप्त करने का, जो जन-कल्याण की साधना में भूख-प्यास, शीत-उष्ण, सुख-दुःख की जरा भी चिन्ता किए बिना अहर्निश संलग्न रहता था। प्रजा को पुत्रवत् पाला था उन्होंने, जनता के सुख में महाराज को सुख की अनुभूति होती थी, प्रजा के कष्ट-क्लेश में तड़पते थे, वे। जन-जन आश्वस्त था उनके संरक्षण में। यदि ऐसे राजा पर जनता अपना सब कुछ वारने को तत्पर हो, तो आश्चर्य भी क्या ?

नगर-यात्रा का कार्यक्रम पूरा हुआ। रात्रि में राजदरबार में कविसम्मेलन का आयोजन किया गया।

आलोक पुञ्ज से जगमगा उठ सारा दरबार। महाराज ने आसन ग्रहण किया और कविता-पाठ प्रारम्भ हुआ।

किसी ने इन्द्र से उनकी उपमा दी, तो किसी कवि ने विष्णु से भी बढ़कर बताया उन्हें। कोई उनके अप्रतिम शौर्य का आलङ्कारिक वर्णन कर रहा था, तो कोई रूप सौन्दर्य का और कोई दानशीलता का। मानो भगवती शारदा ही स्वयं अवतरित होकर महाराज का यशोगान कर रही हो।

महाराज स्वयं सिद्ध सारस्वत कवि थे, रसिकों के शिरोमणि। गुणगान होने के साथ ही गुणग्राही भी थे यशोमूर्ति। महाराज ने स्वयं कविता-पाठ किया और फिर कार्यक्रम पूरा हुआ।

वहां से उठकर महाराज विमर्श-कक्ष में पहुंचे।

"जनता का क्या समाचार है, विल्लप ?; चर से पूछा महाराज ने।"

"सब जन आनन्द विभोर हैं, सर्वत्र सुख और शान्ति है, परन्तु ....." चर का स्वर शिथिल हो गया।

"परन्तु क्या ? क्या कहीं कुछ अनिष्ट हुआ ? क्या कोई दुर्घटना घट गई कहीं ?" महाराज ने उत्सुकता प्रकट की।

"हां, देवाधिदेव। राजपथ के समीप ही भीड़ में एक बच्चे को चोट आ गई है।"

"बच्चा जीवित तो है ? क्या अवस्था हुई उसकी ?" महाराज ने एक ही सांस में पूछा।

"बच्चा जीवित है। राजकीय शुश्रूषागृह में उपचारार्थ तुरन्त ही पहुंचा दिया गया उसे। अब दशा अच्छी है।" सुनकर महाराज ने सन्तोष की सांस ली।

"रथी से कहो कि रथ तैयार रखे।" पार्श्व में स्थित सेवक तुरन्त ही दौड़ा गया राजाज्ञा सुनाने। चर भी राजा को प्रणाम कर चला गया।

रथ पर बैठकर महाराज राजगुरु आचार्य माधव के तृण-कुटीर की ओर बढ़ चले। इससे पूर्व कि राजा अभिवादन करें, आचार्य की मेघ-मन्द्रवाणी में स्वागत का स्वर गूंज गया। राजगुरु चकित थे, उसके अकाल में अप्रत्याशित आगमन पर।

"भगवान् ! मुझे राज्य नहीं चाहिए।" स्वर में विषाद की बोझिलता थी।

"पहेली मत बुझाइए। स्पष्ट कहिए। कहां क्या हुआ ?"

"जिसके शासन में प्रजा की सुरक्षा तक की व्यवस्था न हो, उस व्यक्ति को शासन-पद कलङ्कित करने का रञ्चमात्र भी अधिकार नहीं। शासक-पद पर आसीन होकर मैं अब अधिक पाप कमाना नहीं चाहता। मुझे संन्यास की दीक्षा दीजिये।" महाराज कहे जा रहे थे, "मैं समझता था कि मेरे राज्य में सभी सुखी हैं। किसी को कुछ भी कष्ट नहीं, पर आज मेरा स्वप्न भङ्ग हो गया। नगर-भ्रमण के समय एक बच्चे को भीड़ में बहुत चोट आई। मैं एक क्षण भी राजा बने रहने का अधिकारी नहीं।" राजा ने कारण प्रस्तुत किया।

"प्रजा के सुख-दुःख की चिन्ता राजा को हो यह स्वाभाविक ही है, पर संन्यास ग्रहण करने का दुराग्रह क्यों ?" राजगुरु गम्भीर थे।

"ऊब गया हूं राजनीति की कुटिलता से आचार्य। शासन चक्र ने हृदय शून्य बना दिया है मुझे। हत्या, रक्तपात, खून !!! कितना वीभत्स, जुगुप्सित, पापविद्ध और घृण्य है यह जीवन। हृदय में अशान्ति की दाहक ज्वाला धूं-धूं जल रही है। मुझे शान्ति देनेवाला पुण्य-पथ चाहिए। मैं संन्यास ग्रहण करूंगा।"

"कर्त्तव्य से भावना तो क्षात्र-धर्म नहीं। क्षत्रिय होकर ब्राह्मण-धर्म की स्वीकृति 'स्वधर्म' का त्याग है। इस वर्ण-संकरता का ग्रहण सर्वनाश को निमन्त्रण देना है। यह अवैदिक अथच त्याज्य है।"

आचार्य कह रहे थे। + +

भगवान् भास्कर उदयाचल को अरुण रङ्ग से सराबोर कर रहे थे। आरोग्यशाला में उस बच्चे को देखकर महाराज अभी लौटे ही थे कि बाहर कुछ आवाज़ सुनाई दी। राजा की अनुमति पाकर द्वारपाल ने उसे अन्दर प्रविष्ट कराया।

वह वृद्ध था। जराजीर्ण ..... शिथिल अस्थि-कङ्काल मात्र। जैसे ही अभिवादन किया

उसने राजा को, उसके नेत्रों से आंसुओं की गङ्गा-यमुना फूट पड़ी। महाराज ने आश्वासन दिया। रुद्ध कण्ठ से क्षीण-स्वर निकल रहा था, "हमारे गांव म्लेच्छों के द्वारा लूटे गये। झोंपड़ियां फूंक दी गईं। मन्दिर भूमिसात् किए गए, देव-प्रतिमाएं भग्न की गईं। हमारे ग्रन्थ भट्टियों में झौंक दिये गए। हमारी गौओं के रक्त से सारी धरती रङ्गी गई। पृथ्वीनाथ ! क्रूरकर्मी दस्युओं ने दुधमुंहे शिशुओं को अग्नि में भून डाला। तीखे भाले पर उछाल-उछाल कर उनकी आंतें निकाल डालीं। युवकों के नेत्र निकाल लिए गए। गरम चिमटों ने उनका मांस नोंचा गया। कुल-वधुओं के सतीत्व का अपहरण किया गया।"

सभा में सन्नाटा था .....।

"उनके स्तन काटकर विवस्त्र करके पेड़ों पर रस्सियां और सांकलों से कसकर बांध दिया गया उन्हें। कुमारियों का अपहरण किया गया। किसी वृद्ध पुरुष या स्त्री को जीवित नहीं छोड़ा। हमारा स्वामी लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुआ। तीन दिनों से भूखा-प्यासा रहकर उनकी नज़रों से बचकर भागता हुआ यहां तक आ पाया हूं। आप ही रक्षक हैं।"

कहते-कहते सीमावर्ती प्रदेश के निवासी उस वृद्ध को हिचकी आई और साथ ही उसका शरीर निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़ा। मानो यह सन्देश सुनाने के लिए ही उसके प्राण बचे थे।

"ओह ! यह अनीति !! यह अनाचार !!! राक्षसों का इतना दुस्साहस !!! भारत की पवित्र धरती के समीप यह वीभत्स व्यापार ! मेरे रहते कहीं अत्याचार हो और मैं इन आंखों से देखता रहूं। धिक्कार है उस पौरुष को ! लानत है उस जवानी को ! अत्याचारियों के सीने का रक्त पीकर जिसने मानवता के जीवन-रथ को विजय-रथ को विजय-पथ पर अग्रसर न किया, वह क्लीब है, उसे जीवित रहने का अधिकार नहीं। मैं प्रतिशोध लूंगा। दानवता के विरुद्ध मनु की सन्तानों का झण्डा ऊंचा करूंगा।" नेत्रों ने अङ्गार बरस रहे थे। आसन पर किसी महान् ज्योतिर्संकल्प का आलोक विकीर्ण हो रहा था।

'भारत माता की जय' 'भारत माता की जय' 'भारत माता की जय'। एक साथ सहस्रशः कण्ठ गूंजे।

इतिहासकार बताते हैं कि - दस्युओं का नायक न केवल पराभूत (हारा) ही हुआ, अपितु सामूहिक रूप से भारतीय धर्म में दीक्षित होकर मानवता का ध्वजवाहक भी बना। * * *

प्राचीन काल में ऐसे थे हमारे राज-धर्म का पालन करनेवाले राजा। काश ! यदि आज के राजा अपने राजधर्म का पालन करना सीख जायें, तो फिर प्रजा का कल्याण ही कल्याण है, परन्तु आज के राजा मात्र स्वार्थ और सत्ता के मद में इतने अन्धे हो जाते हैं कि उन्हें प्रजा का कष्ट महसूस ही नहीं होता। न उन्हें प्रजा के दुःख मिटाने के कर्त्तव्य का एहसास होता है। इसीलिये आज प्रजा दुःखों से त्राहि माम्, त्राहि माम् की रट लगा रही है। भगवान् कृपा करे कि इन राष्ट्र नायकों को सद्बुद्धि मिले और ये अपने सुख को छोड़कर प्रजा के सुख की चिन्ता करें। ❑

धर्म के महत्त्व को समझना आवश्यक

आचार्य द्विजेन्द्र
राजौरी गार्डन (नई दिल्ली)

"मज़हब नहीं सिखाता, आपस में वैर रखना। हिन्दी हैं हम वतन हैं, हिन्दोस्तां हमारा॥" यह शायर इकबाल की पंक्तियां हैं। लेकिन हक़ीकत इससे बिल्कुल उलटी हुई है, यह इतिहास बताता है। हजारों लड़ाईयां-मारकाट अलग-अलग धर्मों में आपस में हुई हैं, और अब भी हो रही हैं, लेकिन उसका रूप बदल गया है। हजारों मन जनेऊ व चोटियां उतार-उतार कर जला दिये गये, जिन्दा व्यक्ति दीवारों में चिनवा दिये गये, गांव के गांव जला दिये गये, खौलते तेल में डालकर और तलवारों के घाट उनकी ज़िन्दगियां छीन ली गईं; यह सब धर्म के नाम पर हुआ। क्या धर्म हमें ऐसा करना सिखाता है? वास्तव में धर्म ऐसा हो ही नहीं सकता। धर्म के ठेकेदारों ने अपने धर्म को श्रेष्ठ बताने के लिए आपस में राग-द्वेष की भावना भर दी है, और बलात् अपने धर्म में दीक्षित (परिवर्तित) किया है।

धर्म को श्रेष्ठ और सरल हृदय से समझने की जरूरत है। धर्म शब्द का अर्थ है - **"जो धारण किया जावे।"** अब प्रश्न उठता है - "क्या धारण किया जावे ?" तो उसका उत्तर यही है कि - "धारण वही किया जावे जिससे प्राणीमात्र को लाभ मिले, किसी का अहित न हो। आपस में मेल-मिलाप सद् व्यवहार हो। सब एक-दूसरे का आदर करें, वेद की शिक्षाओं का पालन करें। जो मनुष्य की उत्पत्ति के साथ ही हमारे या विश्व के हितार्थ प्राप्त है, उसकी हर बात जो विज्ञान की कसौटी पर सही है, उसको ही सद्ज्ञान मानें।" सबका ईश्वर एक है। जिस तरह सूरज-चांद सभी मतावलम्बियों व सभी प्राणियों के लिए एक हैं, वैसे ही वास्तव में धर्म भी सभी के लिये एक ही है। जब से स्वार्थी लोगों ने वेद की शिक्षाओं का ग़लत अर्थ करके स्व-मन्तव्य का प्रचार किया, तब ही से अन्य मत-सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। महर्षि दयानन्द सरस्वती के आने के बाद ही वेदों के अर्थों का वास्तविक पुनरुद्धार हुआ और हमें सच्चा ज्ञान मिला।

ईश्वर सर्वव्यापक है, सब जगह मौजूद है, उसका न जन्म होता है, न मृत्यु। वह अजर, अमर, न्यायकारी, दयालु और सृष्टिकर्त्ता है, उसी की उपासना करनी चाहिये। उसको पाने के लिये कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। वह तो हमारे हृदय में आत्मा के पास ही मौजूद है, बस, मन साफ और निष्कपट होना चाहिये, तभी उसकी अनुभूति होती है। जब कोई अपराध, चोरी, हत्या आदि करता है, तो उसकी आत्मा में बैठा हुआ ईश्वर उसे ऐसा करने को मना करता है, पर अपराध करनेवाला उसकी नहीं सुनता है

और अपराध कर बैठता है। आप किसी भी धर्म के माननेवाले हों, सभी के साथ वही व्यवहार कीजिये, जो आप अपने लिए दूसरों से चाहते हैं। यानि नहीं चाहते कि आपके घर पर कोई डकैती करे, या भ्रष्टाचार, अपहरण, बलात्कार, मिलावट, असत्य भाषण, ठगी, हत्या आदि अपराध करे, तो आप भी दूसरों के साथ वैसा ही अपराधरहित व्यवहार करें; यही धर्म है और यही धर्म का सार है। इसको किसी प्रकार के ग्रन्थ में देखने की आवश्यकता नहीं है। अपने आत्मा के साथ जो परमात्मा बैठा हुआ है, उसी से पूछिये और मानिये। धर्म व धार्मिकता व्यवहार में होनी चाहिये, धोती-टोपी, जनेऊ, चोटी, तिलक, माला आदि किसी के धार्मिक होने की कसौटी नहीं हैं। आतंकवाद मानवता पर सबसे बड़ा कलंक है। निरपराधियों की हत्या करना कायरता और बुजदिली है, वीरता नहीं है। जिसकी आत्मा मर चुकी हो, वह ऐसा कार्य कर सकता है। वह अगर इस काम को सही समझता है, तो फिर भागता, लुकता-छिपता क्यों है ? सही किया है तो सही का प्रमाण दे, धर्म को क्यों बदनाम करता है।

अन्त में मैं यही कहूंगा कि धर्म के महत्त्व को सही प्रकार से समझने का प्रयास करें, प्राचीन वैदिक साहित्य को पढ़ें और धर्म के वास्तविक अर्थ को जानकर उसके अनुरूप संसार के समस्त प्राणिमात्र के साथ यथावत् व्यवहार करें, तभी मानवता जीवित रहेगी, अन्यथा अधर्म से समस्त मानवजाति का विनाश निश्चित ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं। ❑

जीवन का कम्बल

नरेन्द्र विद्यावाचस्पति

दो साधु थे। किसी भक्त ने दोनों साधुओं को बहुमूल्य गर्म-कम्बल उपहार में दिए। एक बार दिन भर यात्रा करने के बाद दोनों साधु रात के विश्राम के लिए एक धर्मशाला में ठहरे। सर्दी की रात थी। जब सोने का समय हुआ, तब एक साधु ने सोचा कि कम्बल कीमती है, कहीं ऐसा न हो कि रात के समय कोई चोर चुरा ले जाये। उस साधु ने अपने कम्बल को लपेटकर उसे अच्छी तरह तह कर सिरहाने में लगाया और सो गया। दूसरा साधु जब सोने लगा, तब उसने देखा कि सर्दी में कुछ अनाथ बच्चे कांप रहे थे और उनके दांत कटकटा रहे थे। साधु को दया आई, उसने अपना कम्बल उन अनाथ ठिठुरते हुए बच्चों को उढ़ा दिया। यह धर्मशाला थी। सुबह जब दोनों साधु उठे, तब दोनों में से किसी के पास भी कम्बल नहीं था। एक साधु ने स्वेच्छा से पूर्वरात्रि को ठिठरते बच्चों को अपना कम्बल ओढ़ा दिया, पर दूसरे साधु ने चोरी के डर से अपना कम्बल सिर के नीचे से तकिये की तरह लिया था, उसका कम्बल रात्रि में चोरी हो गया। अपनी इच्छा से अपना कम्बल त्यागने वाला साधु प्रसन्न था, परन्तु चोरी गए कम्बल वाला साधु बहुत दुःखी था।

इसी प्रकार यह जीवन की कम्बल चदरिया एक न एक दिन सबसे ही छिन जानी है, जो स्वेच्छा से इसे त्याग देता है उसे कोई दुःख नहीं व्यापता, पर जो उससे चिपटा रहता है, वह सदा दुःखी होता है। ❑

विश्व का एकमात्र धर्म - "वैदिकधर्म"

सन्तोष वधवा
नारायण विहार (नई दिल्ली)

मानव की उत्पत्ति से ही धर्म और ईश्वर विषय संसार के प्रत्येक मानव के साथ जुड़े हैं। नास्तिकों को छोड़कर अधिकांश मनुष्य किसी न किसी रूप में धर्म को मानते ही हैं।

धर्म शब्द **'धृ'** धातु से बना है, जिसका अर्थ है - धारण करना, अर्थात् सद्ज्ञान को धारण करना; जिससे मानव सुख से परिपूर्ण हो सके। आचार्य चाणक्य ने कहा है कि -

सुखस्य मूलं धर्मः ॥

यदि सुख की कामना है तो धर्म जीवन में अवश्य अपनायें।

ज्ञान की कसौटी पर परखना, विवेक की तुला पर तोलने का नाम ही **धर्म** है। तभी तो कहा है -

यस्तर्केणानुसन्धते स धर्मो वेद नेतरः ॥

अर्थात् - धर्म वेद-ज्ञान पर आधारित सत्य का नाम है, जो विज्ञान तथा सृष्टिक्रम सम्मत हो। इसके विपरीत मानना असत्य या अधर्म कहलाता है।

वेद में भी स्पष्ट कहा है - **"सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववाराः"** वैदिक संस्कृति ही विश्व की प्रथम तथा आदि-संस्कृति है। यही मानव जीवन के धर्म का आधार है।

वैदिक ऋषि-मुनियों की मान्यताओं के आधार पर सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने दिव्य वेदों का ज्ञान दिया। इसमें मनुष्यों के हितकारी कर्मों का उपदेश और आदेश है। वेद के चार अर्थ हैं - **(1) सत्ता (2) ज्ञान (3) विचार** और **(4) लाभ।** वेद के द्वारा गुण-व्यवहार आदि के उपदेश को पाकर मनुष्य धर्ममार्ग पर चल सकता है। इसी वेद ज्ञान को धर्मज्ञान का स्रोत कहा जाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी भी धर्म के ज्ञान का आधार वेद ही बतलाते हैं।

महाभारत में भी महर्षि वेदव्यास जी ने **"अनादि निधना..."** कहकर सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने वेदों का ज्ञान दिया, इसलिये यही ज्ञान समस्त मानव-मात्र का हितकारी है, ऐसा कहा है। ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण यह ज्ञान अनादि तथा नित्य है, इसका कोई प्रारम्भ व अन्त नहीं है।

अन्य विद्वानों की सम्मति के आधार पर हमारे जिस दैनिक व्यवहार व कार्य से समाज व राष्ट्र पुष्ट हो, वही कार्य धर्म कहाता है। नास्तिक स्टालिन जैसे कम्यूनिस्ट नेता भी देश, व्यवहार, और इतिहास के विशुद्ध न्यायपूर्ण बर्त्ताव को धर्म मानते हैं। धर्म के महान् शक्तिमान् होने के कारण सामाजिक और व्यक्तिगत भावनाओं में व्याप्त प्रेरणाओं को ही धर्म कहते हैं। धर्म मरहम नहीं बल्कि टॉनिक है। उसे बाहर मलना नहीं पड़ता, बल्कि पी जाना पड़ता है। कितना

आश्चर्य है कि हम धर्म के नाम पर लड़ने-मरने की बात तो कहते हैं, पर धर्मानुसार आचरण नहीं करते।

स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार हिन्दू धर्म में मानवता की गरिमा जितना उदात्त व परिपूर्ण है, उतनी संसार में कहीं नहीं।

महर्षि मनु जी ने धर्म के दस लक्षण बताये हैं - **धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी** (बुद्धि), **विद्या, सत्य और अक्रोध**। यदि कोई मनुष्य इन दसों लक्षणों को जीवन में धारण कर लेता है, वही सत्पथ एवं धर्म पर चलता हुआ **धार्मिक** कहलाता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने भी महर्षि मनु की बात का समर्थन करते हुए कहा है -

"जिसका स्वरूप ईश्वराज्ञा पालन यथावत् करना और पक्षपात रहित न्याय सर्वहित करना है, जोकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिए मानने योग्य है, उसको धर्म कहते हैं।"

धर्म का व्यवहारिक पक्ष -

समाज द्वारा सौंपे गए शास्त्र-सम्मत उत्तरदायित्व का निर्वाह ही धर्म है। मानवता की रक्षा करना ही धर्म है। संसार में ऊर्ध्वोन्मुखी अथवा ईश्वरोन्मुखी होना ही धर्म है। परोपकार के साथ जीना ही धर्म है। वैदिक ऋषियों की मान्यताओं के आधार पर मानव जीवन के उद्देश्य धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष चतुष्टयी सिद्धि में धर्म का सर्वप्रथम स्थान है। धर्म के आश्रय से अर्थ तथा काम को सहायक मानकर मनुष्य अपने परमलक्ष्य लोक एवं परलोक की सिद्धि कर सकता है। महर्षि कणाद के अनुसार जो लोक और परलोक में हमारा सहायक हो, वह धर्म कहलाता है।

धर्म का व्यापक अर्थ -

धर्म वही है जिससे मनुष्य अपने कर्त्तव्य का पालन निष्ठापूर्वक करता है। प्रत्येक मनुष्य के लिये विद्वानों ने पांच प्रकार के कर्त्तव्य निश्चित किये हैं - **(1) वैयक्तिक धर्म (2) पारिवारिक धर्म (3) सामाजिक धर्म (4) राष्ट्रीय धर्म और (5) वैश्विक धर्म**। अपने शरीर-मन और आत्मा की उन्नति के लिए निरन्तर पुरुषार्थ करना **वैयक्तिक-धर्म** है। जीवन में निरन्तर विकास करते हुए परिवार के प्रति उत्तरदायित्वों को निभाना **पारिवारिक-धर्म** है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिये उसका समाज के प्रति भी विशेष कर्त्तव्य है। आश्रम और वर्णाश्रम इसीलिये बनाये गये हैं। महर्षि दयानन्द ने भी आर्यसमाज के छटे नियम में शारीरिक-आत्मिक और सामाजिक उन्नति को परम कर्त्तव्य माना है। समाज के प्रति कर्त्तव्य के निर्बाह करने को **सामाजिक-धर्म** कहते हैं। इसी प्रकार राष्ट-भक्ति और राष्ट्रीय-प्रेम को जागृत करना ही **राष्ट्रीय-धर्म** है। व्रत, तीर्थ, गंगा-यमुना में स्नान करना, पुष्कर-गौरीकुण्ड में स्नान करने से जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा पाने की भावनावालों के मन में राष्ट्रधर्म का चिन्तन ही पैदा नहीं होता। जबकि स्वामी दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द, पं. लेखराम, रामप्रसाद बिस्मिल, राजगुरू, चन्द्रशेखर, भगतसिंह आदि अनेकों वीरों ने राष्ट्रधर्म के हित

अपना जीवन बलिदान कर दिया। पांचवां है - **वैश्विक-धर्म।** अर्थात् विश्व के प्रति धर्म या कर्त्तव्य। **"सर्वे भवन्तु सुखिनः" "वसुधैव कुटुम्बकम्"** जैसे विचारों से मनुष्य राष्ट्र की सीमाओं से परे होकर विश्व-कल्याण की कामना करता है। उसकी दृष्टि में किसी भी देश व जाति के मनुष्यों में कोई अन्तर नहीं है। कुछ स्वार्थी लोगों से अपने स्वार्थ की ख़ातिर धर्म का नाम लेकर अपनी दुकानों को चला रखा है। धर्म वह पगड़ी नहीं, जिसे जब चाहो पहन लो और जब चाहे उतार दो। धर्म तो चमड़ी के समान है, जिसे जीवन से पृथक् नहीं किया जा सकता। धर्म तो आत्मा का स्वभाव है। धर्म के अर्थ प्रेम, करुणा और सद्भावना है, उसका प्रतीक फिर चाहे राम-कृष्ण हो या बुद्ध-महावीर। सबकी आत्मा में धर्म की एक ही आवाज़ होगी। धर्म दीवार नहीं, द्वार है। परन्तु जब धर्म दीवार बन जाता है तो फिर उसकी आड़ में मनुष्य अन्याय व अत्याचार का खेल खेलना प्रारम्भ कर देता है। फिर वह चाहे दीवार मस्ज़िद की हो अथवा अन्य किसी की। धर्म मानवीय कर्त्तव्यों के निभाने का नाम है।

इसलिये प्राचीन ऋषि-मुनि एवं विद्वानों का कथन है **"धर्मो रक्षति रक्षितः"** जो मनुष्य धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। और जो धर्म की हत्या कर देता है तो धर्म उसका विनाश कर देता है। इस प्रकार के विचारों को जानने वाले के लिए विश्व एक कुटुम्ब बन जायेगा। ईश्वराज्ञा पालन करना ही उसका धर्म बन जायेगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि ईश्वराज्ञा कौन-सी मानी जाये ? मुस्लिम कहते हैं कि - कुरान ही खुदा का हुक्म है। ईसाईमत वाले कहते हैं कि बाइबिल ही परमात्मा का सन्देश है। इसी प्रकार अन्य मत-मज़हब वाले अपने-अपने ग्रन्थ को ही ईश्वराज्ञा कहते हैं। पर इन सबमें भेद और विरोध होने के कारण ईश्वराज्ञा नहीं कहा जा सकता। ईश्वराज्ञा केवल वही हो सकती है जो सार्वभौमिक-सार्वकालिक और सर्वदेशीय हो। अर्थात् समस्त मानव जाति के लिए हितकर हो, किसी देश विशेष या किसी जाति विशेष के लिये न हो। आपसी सौहार्द, सद्भाव, प्रेम और विश्व शान्ति की स्थापना करने में जो सक्षम हो वह धर्म है। मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम ने धर्म पर चलकर ही सत्य का मार्ग अपनाया। यह मर्यादा पालन की भावना हमें ईश्वरोपासना से मिलती है। मर्यादा पालन धर्म और मर्यादा का हनन अधर्म कहलाता है। मनु महाराज ने **"वेदोऽखिलो धर्म मूलम्"** कहकर वेद को ही धर्म का मूल माना है और वेदाज्ञा को ही धर्म का आधार।

अब अधर्म क्या है ? यदि यह समझ लिया जाय, तो फिर धर्म की महत्ता स्वयमेव स्पष्ट हो जायेगी। अधर्म के विषय में महर्षि जी लिखते हैं कि -

"जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा को छोड़कर और पक्षपातसहित अन्यायी होकर बिना परीक्षा करके अपना हित करना हो, जो अविद्या-हठ-दुराग्रह-अभिमान-क्रूरता आदि दोषों से युक्त होने के कारण वेदाविद्या के विरुद्ध

है और सब मनुष्यों के द्वारा छोड़ने योग्य है, वह अधर्म कहाता है। महर्षि का मत है कि मनुष्यों के विचार मत-सम्प्रदाय, मजहब आदि हो सकते हैं, पर धर्म नहीं। इसलिये आर्य विद्वान् शास्त्रार्थ महारथी पं0 रामचन्द्र देहलवी जी ने लिखा है –

गुलशन हस्ती का इकरंगी आलम आम था।
पहले इक कौम थी इन्सान जिसका नाम था॥

धर्म ईश्वर-कृत होने से सबका कल्याण करता है। शायर इकबाल ने बहुत सुन्दर पंक्तियां लिखी हैं –

मज़हब नहीं सिखाता, आपस में वैर रखना॥

यही भावना सत्य है, यही भावना सनातन है, यही भावना कर्त्तव्य है और यही भावना सनातन-धर्म है। वैदिकधर्म ही सनातन धर्म है, जो हम सबको संसार में प्रेम से जीने का सन्देश सिखाता है। हम इस संसार में किस प्रकार जीवन व्यतीत करें और हमारा व्यवहार कैसा हो, इसका ज्ञान वैदिकधर्म से ही प्राप्त होता है। धर्म कल्याणप्रद है। धर्ममय जीवन ही मानव को मरकर भी अमर बना देता है। मन्दिर, मस्ज़िद, गुरुद्वारे जाने वाले मनुष्य के यदि आचार, विचार, व्यवहार वैदिक परम्परा और सिद्धान्तों के विपरीत हो, तो उसे धार्मिक नहीं कहा जा सकता। मानवीय गुणों को जीवन में उतारनेवाला ही धार्मिक है, चाहे वह किसी भी देश का क्यों न हो।

आज धर्मों के नाम पर पाखण्डों की दुकानें खुल रही हैं। लोग मीडिया का सहारा लेकर धर्म के नाम पर पाखण्डों को बढ़ावा दे रहे हैं। मानव इन सबसे अपने को बचाकर जीवन को यदि धर्म-मार्ग पर चलाये, तो वह अपनी और दूसरों की दृष्टि में धार्मिक बन जायेगा। अतः वैदिकधर्म ज्ञान का सागर है। तर्क और विवेक की कसौटी पर कसा जानेवाला अद्वितीय धर्म है। जिस प्रकार सभी नदियों का जल समुद्र में मिलकर एक रूप हो जाता है, उसी प्रकार धर्म की नदी सत्य और न्याय पर आधारित है और इसमें सब प्रकार की अच्छाईयां विद्यमान हैं।

आओ, हम सब मिलकर चिन्तन-मनन करते हुए वैदिकधर्म को अपनायें, क्योंकि वैदिक धर्म ही एक साफ-सुथरा धर्म है। कहा भी है –

बहुत साफ सुथरा है वैदिक धरम।
चलो आओ मिलकर बढ़ालें कदम॥
निराकार प्रभु है सभी में समाया।
सभी जन हैं अपने न कोई पराया।
घृणा-द्वेष तज दें, सिखाता धरम॥
बहुत साफ .... ॥1॥
निराकार प्रभु है सभी में समाया।
सभी जन हैं अपने न कोई पराया।
घृणा द्वेष तज दो सिखाता धरम॥
बहुत साफ .... ॥2॥
आवागमन का यही सिलसिला है।
यह मानव का तन बड़ी मुश्किल मिला है।
फल पाया जैसा किया है करम॥
बहुत साफ .... ॥3॥
बन्दे तू नेकी कमाये चला जा।
दिलों में तू ज्योति जलाये चला जा।
इसी से मिलेगा तुझे सुख धरम॥
बहुत साफ .... ॥4॥ ❑

शैक्षिक प्रोन्नयन और महर्षि दयानन्द

रामस्वरूप 'रक्षक'
अजमेर (राजस्थान)

भारत के मनीषियों में ऋषि-मुनि, तीर्थंकर बुद्ध, तिरुवल्लुवर, कबीर, नानकदेव दयानन्द आदि-आदि संत हैं। इनके विचारों को सारे गुरुकुलों व योरपीय (हरिवर्षीय) शैली के विश्वविद्यालयों आदि में प्रवेश कराया जाये, तो आचार्य एवं प्राध्यापक आदि भारतीय विद्वान् दक्षिण एशिया (आर्यावर्त्त) हिंद महासागरीय देश (अरब से कोरिया-भरतखंड) व एशिया (जम्बूद्वीप) आदि के छात्रों को विश्व-हितैषी बना सकते हैं। प्रयास किया जाय तो शोध और प्रयोग करने में भारत आदि के छात्र-छात्राओं को बहुत आगे बढ़ाया जा सकता है।

शिक्षा के बारे में ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका में प्रमाण-अप्रमाण विषय तथा पठन-पाठन विषय हैं। सत्यार्थप्रकाश के तीन व चार समुल्लास हैं। संस्कारविधि में वेदारम्भ-गृहाश्रम संस्कार हैं। व्यवहारभानु, संस्कृत वाक्यप्रबोध, स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश हैं। स्वमन्तव्य में महर्षि दयानन्द ने 'शिक्षा' को परिभाषित करते हुए लिखा है - **"शिक्षा वह है जिससे सभ्यता जितेन्द्रियता धर्मात्मता विद्या आदि की बढ़ती होवे"** तो आर्ष गुरुकुल व डी.ए.वी. के आचार्य, विश्वविद्यालय प्राध्यापक आदि इस ओर बढ़ें। ये चार व अन्य सद्गुण छात्रों में स्थापित करने से वे कुशल बन जावेंगे।

किशोर 16 से 24 वर्ष किशोर युवतियां सभ्य बनें व्यवहार के स्तर पर। सभ्य यानी सर्वसाधारण से सद्व्यवहार करें। सत्यभाषण से पहले-पहले अक्षरों को जोड़े तो 'सभा' बनती है। यानी जहां सत्यभाषण ही होता है, वह सभा है। ग्राम या नगरसभा से लोकसभा व आगे दक्षिण एशियासभा वगैरह जो हो, शिक्षकों द्वारा छात्र-छात्रा ऐसे बना दिये जायें कि छात्र संगठनों में चयन हो, यानी जो जितना योग्य है उसे वरीयता में आगे रखें। निर्वाचन हो तो लोकप्रियता के साथ सद्गुण शुभकर्म करनेवालों को प्राथमिकता मिले।

जितेन्द्रियता यानी जीत लिया है इन्द्रियों को, ज्ञानेन्द्रियों के साथ कर्मेन्द्रियों पर पूरी तरह नियन्त्रण हो। हाथ-पांवों से शिक्षार्थी शुभ कर्म ही करे। साथ ही छात्राओं से सगी बहन जैसा सुव्यवहार ही करे। छात्र-छात्र आपस में भाई-भाई जैसा वर्त्ताव करें। अपने विद्यालय आदि से अन्य दूजे जो शिक्षालय हैं, उनके छात्र-छात्रा से भी सगे भाई-बहन जैसा व्यवहार ही करें। संवाद हो सब स्तर के छात्रों में, विवाद कतई न हो। वितण्डा व डण्डा की जरूरत कतई न पड़े, यदि हो तो हॉकी स्टिक आदि खेल में। आवश्यकता हो तो हॉकी-बल्ले आदि के लिए छात्रों को अथवा बड़े छोटे

के दुःख घटावें, सुख बढ़ावें। राजनैतिक सभा वाले भी सम्मान करें छात्रों का।

'धर्म' शब्द व्यापक है। अंग्रेजी **रिलीजन**, उर्दू मज़हब के लिए भारतीय भाषाओं में समुचित शब्द है **'आस्था'**। 'धर्म' यानी सृष्टि नियम। मानव द्वारा सृष्टि के नियमों का पालन यानी मानवधर्म। अतः समूची मानव जाति-प्रजाति का एक ही धर्म हो। महर्षि ने परमेश्वर के सौ नाम 'सत्यार्थप्रकाश' के पहले समुल्लास में बताये हैं, आर्यसमाज के दूसरे नियम में बीस नाम हैं, इनमें पांच गुण सभी धारण कर सकते हैं। **न्यायकारी, दयालु, निर्विकार, अभय, पवित्र,** अध्यापक-अध्येता माता-पिता आदि पूर्वज व और सब हो सकते हैं। इन्द्रिय, चित्त (भूतकाल की ओर ले जाता है), मन (भविष्य की ओर जाता है), बुद्धि (वर्त्तमान के शील-स्वभाव में) यानी अन्तःकरण से आगे जीवात्मा है। तो जीवात्मा सब काल सारे स्थानों में हर एक के साथ धर्म के अनुकूल ही आचरण करे। **न्यायकारी** जो औरों के हक को बचावे। **दयालु** जिसके पास कुछ ज्यादा हो वह औरों को दे दे, पर देते समय दर्प (अहङ्कार) न हो। **निर्विकार** जुबान से कह दिया तो वह पक्का हो, बहाना न करे। मां के पेट से कलम दवात लेकर कोई नहीं आता। जुबान जिह्वा ही तो होती है। अतः जीभ ने जो बोला, उस पर कायम रहे। **पवित्र** यानी स्त्रीमात्र का आदर करे। नारी को किसी प्रकार की पीड़ा न दे, पीड़ा की जड़ ही खोद देवे। कुमारी कन्या के कौमार्य, विवाह की इच्छुक युवती द्वारा स्वयं अपने-आप वर यानी आजीवन साथी के निर्णय हेतु मदद करे। किसी वय की मानुषी को वारांगनावृत्ति (जिस्म-फरोशी) के नरक में जाने से बचावे।

'विद्या' यानी जो विद्यमान है, उसे स्वीकारे। वेद में बताया है - **"सा विद्या या विमुक्तये"** जिससे विवेक सहित मुक्ति=छूटना हो, उसे विद्या कहे। जिसमें कोई दुराग्रह, हठ, भ्रम, भ्रांति, संशय, सन्देह न हो। परमेश्वर की वाणी वेद में स्पष्ट तौर से बताया है कि - **"विद्ययाऽमृतमश्नुते"** मरण भय से रहित हो जाता है, मन जिससे वह **'अभय'**। सभय - डर लगा, निर्भय - डर निकल गया, डरा ही नहीं, यानी अभय। मरणभय से रहित जो हो गया, उस मन की स्थिति अमृत है। इस अमृत को पृथ्वी के सब मनुष्य प्राप्त कर लें। संस्कृत के ग्रन्थों में कहा है - **"विद्या ददाति विनयम्"** तो विनय निरभिमानता 'न हीनता' सभी में हो। महाभारत के कृष्णार्जुन संवाद में **"विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे"** विद्या के साथ विनय है, तो ब्राह्मण कहलाता है। इसी प्रकार सत्ता के साथ विनय है तो क्षत्रिय, सम्पदा के साथ विनय है तो वैश्य तथा स्वच्छता-श्रम के साथ विनय है तो शूद्र है। मानव शरीर में सिर-भुजा व सीना-पेट-पांव क्रमशः चारों हैं, तो शासकीय शिक्षा व्यवस्था भी ऐसी सरल हो कि सारे शिक्षालय सब शिक्षार्थियों को सद्गुणी, शुभकर्मी व सुशील बनाते रहें, बिना दुविधा के। अभिभावक, प्रबन्धक, शासक जनप्रतिनिधि आदि के सर्वतोभावेन सहयोग से भारत व दक्षिण एशिया आदि के छात्र-छात्रा सर्वाग्रणी सर्वोच्च विश्व कल्याणकारी हों। ❑

शास्त्रों की दृष्टि में 'धर्म-सर्वस्व'

आचार्य भद्रकाम
मिण्टोरोड़ (नई दिल्ली)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

(महाभारत)

धर्म-सर्वस्व यह है कि अपनी आत्मा के विपरीत आचरण दूसरों के साथ कभी मत करो। जैसे अपने को सुख प्रिय है, वैसे ही दूसरों के लिये सुख चाहो, तथा जैसे दुःख अप्रिय है और हम दुःख से छूटना चाहते हैं, वैसे ही दूसरों को भी दुःखों से छुड़ाने का सदैव प्रयत्न करते रहना चाहिये। इसको ध्यान से सुनिये और सुनकर विचारपूर्वक निश्चय कीजिये। यही धर्म का सम्पूर्ण सारांश लक्षण है।

धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद् बल्कीकमिव पुत्तिका।
परलोक सहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥

(मनु0 4/238)

परलोक में सहायता के लिये किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुंचाते हुए उसी प्रकार धीरे-धीरे धर्म का संचय करे, जैसे दीमक अपनी बाबी को धीरे-धीरे बनाती है।

क्योंकि -

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥

(मनु0 8/17)

मनुष्य का एकमात्र धर्म की सच्चा मित्र है, जो कि मृत्यु के पश्चात् भी मनुष्य के साथ जाता है। अन्य सब कुछ तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाते हैं।

नामुत्र सहायार्थस्र पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारं न ज्ञातिः धर्मस्तिष्ठति केवलः॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखाः बान्धवाः यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

(मनु0 4/240-241)

मृत्यु के पश्चात् इहलोक को छोड़कर जब दूसरे लोक में प्रस्थान करते हैं, तब वहां माता-पिता, पुत्र-पत्नी, सम्बन्धी आदि जनों में से कोई भी सहायता नहीं करता, परन्तु धर्म एक अकेला साथ जाता है॥

मृतक शरीर को लकड़ी व ढेला के समान जानकर पृथिवी पर छोड़कर बन्धु-बान्धव विमुख चले जाते है, किन्तु एक धर्म ही जीवात्मा के साथ जाता है।

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे,
नारी गृहद्वारे जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोक मार्गे,
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

(आप्तवचन)

शरीर छूटने पर सब कुछ छूट जाता है, अर्थात् समस्त धन पृथिवी पर ही रह जाता है। गाय, बैल, हाथी, घोड़े आदि उपकारक जीव भी अपनी-अपनी शालाओं में रह जाते हैं। प्राणप्रिया

पत्नी घर के दरवाजे तक साथ दे पाती है। अन्य मित्र-मण्डली श्मशानघाट तक साथ जाते हैं। और यह शरीर भी अधिकाधिक चिता तक साथ देता है, परन्तु धर्म इससे भी आगे परलोक अर्थात् अगले जन्म-जन्मान्तर तक जीवात्मा के साथ जाता है।

अधार्मिको नरो यो हि यस्य चाप्यनृतं धनम्।
हिंसारतश्च यो नित्यं नेहासौ सुखमेधते॥

(मनु0 4/170)

इस संसार में जो व्यक्ति अधर्माचरण, मिथ्याचरण वा हिंसा में संलग्न है, वह सुख को कभी प्राप्त नहीं कर सकता है।

नाधर्मचरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।
शनैः आवर्त्तमानस्तु कर्त्तु मूलानि कृन्तति॥

(मनु0 4/172)

जैसे लोक में गाय के पालन का फल दूध व बछड़ा तुरन्त नहीं मिलता, अपितु समय पर अवश्य मिलता है, वैसे ही अधर्म का फल कई बार तुरन्त नहीं मिलता, परन्तु वह अधर्म-कर्त्ता के सुख की जड़ को धीरे-धीरे काटता रहता है। जब सम्पूर्ण जड़ काट लिया जाता है, तब पतन अवश्य हो जाता है।

अधर्मेण एधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

(मनु0 4/174)

अधार्मिक लोग प्रथम अधर्माचरणरूप पाप कर्म करते हैं, पुनः बढ़ जाते हैं। तत्पश्चात् बहुत समृद्धि को प्राप्त करके सुखी हो जाते हैं, तथा पापाचरण करके शत्रुओं को भी जीत लेते हैं, परन्तु पश्चात् मूलसहित विनष्ट हो जाते हैं।

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद् विनश्यति॥

(चाण0 15/6)

अन्यास से उपार्जित धन दश वर्ष ठहरता है। ग्यारहवें वर्ष में मूल सहित विनाश को प्राप्त हो जाता है।

एकः करुते पापानि फलं भुङ्क्ते महाजनः।
कर्त्ता कर्मणि लिप्यते भोक्ता पापाद्विमुच्यते॥

(महा0 उद्यो0 1/33/41)

परिवार में एक व्यक्ति पापकर्म करके धनोपार्जन करता है और उसका उपभोग परिवार के सभी लोग करते हैं। पापकर्म करनेवाला पाप का भागी होता है, परन्तु धन का भोग करनेवाला पाप का भागीदार नहीं होता है। अर्थात् कर्त्ता को पापकर्म का फल भोगना पड़ेगा, भोक्ता इससे विमुक्त रहता है।

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत् पुत्रेषु नप्तृषु।
न त्वेवन्तु कृतोऽधर्मः कर्त्तुर्भवति निष्फलम्॥

(मनु0 4/173)

पापकर्त्ता को पापकर्म का फल यदि जीवनकाल में पाप करते समय नहीं मिलता, तो पुत्र-पौत्र के जीवनकाल में अवश्य मिलेगा। परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि किया हुआ पापकर्म निष्फल व्यर्थ चला जाये।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्॥

(ब्रह्मवैवर्त 37/16)

करोड़ों कल्प-कल्पान्तर में किया हुआ कर्म बिना भोगे खत्म नहीं होता है, चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ, फल तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा।

राजा राष्ट्रकृतं पापं राज्ञः पापं पुरोहितः।
भर्त्ता च स्त्रीकृतं पापं शिष्यपापं गुरुस्तथा॥
(चाण0 6/9)

राजा के अधीनस्थ प्रजा द्वारा किया गया पापकर्म का फल राजा को तथा राजा के द्वारा किया गया पापकर्म का फल पुरोहित को, स्त्री द्वारा कृत पापकर्म का फल पति को तथा शिष्य द्वारा किया गया पापकर्म का फल गुरु को भोगना पड़ेगा।

ख्यापनेन अनुतापेन दानेन तपसाऽपि वा।
पापकृत् मुच्यते पापात् श्रुतिस्मृतिजपेन वा॥
(महाभा0 1/20)

पापकर्त्ता पापकर्म के फल से निम्न सात उपाय से बच सकता है –

1. **ख्यापनेन** – स्वीकार कर लेने से।
2. **अनुतापेन** – खेद प्रकट करने से।
3. **दानेन** – हानि की भरपाई दान–अनुदान द्वारा करके।
4. **तपसा** – तपस्या अर्थात् द्वन्द्वों को सहन करके
5. **श्रुति** – वेदानुकूल स्वयं दण्ड ग्रहण कर लेने से
6. **स्मृति** – मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों के दण्ड प्रक्रिया के अनुसार स्वयं दण्ड ग्रहण कर लेने से तथा
7. **जपेन** – प्रायचित्त पूर्वक जप करने से पापकर्त्ता पापकर्म के फल से बच सकता है।

पापी द्वारा किये हुए पापकर्मों का विभाजन तीन भागों में जानना चाहिये। अर्थात् –

1. **भूतकालिक**
2. **वर्त्तमानकालिक** तथा
3. **भविष्यत्कालिक।**

भूतकाल में किया हुआ पापकर्म का फल तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा, परन्तु वर्त्तमान व भविष्यत् के पापकर्म के प्रभाव को न्यून किया जा सकता है।

इसमें प्रमाण –

यद् ग्रामे॒ यदर॑ण्ये॒ यत् स॒भायां॑ यदि॑न्द्रिये।
यदे॑नश्चकृ॒मा व॒यमि॒दं तदव॑यजामहे॒ स्वाहा॑॥
(यजु0 3/45)

चारों आश्रमों में रहनेवाले हम मनुष्यों को चाहिये कि जो ग्राम, नगर आदि में या एकान्त वन में अथवा विद्वत् समूह के मध्य में वा मन–वचन–कर्म से पापकर्म कर रहे हैं या करेंगे, उन सभी को दूर करें।

निरुक्तं वा एनः कनियो भवति॥
(शतपथ ब्राह्मण)

स्वीकार किया हुआ पापकर्म छोटा बन जाता है।

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम्॥
(ऋ0 1/97/1)

हे परमात्मन्! हम लोगों को दुष्ट व्यसन अर्थात् हमें पापों से दूर कीजिये।

यही भाव महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने आर्याभिविनय के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए लिखा है – "हे परमात्मन्! हमारे पाप नष्ट हो जायें, जिससे हम लोग निष्पाप होके आपकी भक्ति और आज्ञा पालन में नित्य तत्पर रहें।"
(आर्याभिविनय 39) ❑

दशकं धर्म लक्षणम्

जिलेराम भाटी
नारायण विहार (नई दिल्ली)

मनुस्मृति के अनुसार धर्म के दश लक्षण कहे गये हैं। मनु जी द्वारा वर्णित श्लोक निम्न प्रकार है –

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्॥

(मनु0 6/92)

यहां पर मैं यही कहना चाहूंगा कि इन दश लक्षणों के पहले मनुजी ने चार आश्रमों के लिए भी धर्मों का उल्लेख किया है, तदुपरान्त यह श्लोक कहा, और इन दश लक्षणों का पालन सभी आश्रमों द्वारा सभी द्विजों को करना चाहिए।

इसी प्रकार का एक श्लोक हितोपदेश में भी मिलता है, जिसमें धर्म के आठ लक्षण कहे गए हैं –

इज्याधनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥

इस हितोपदेश के श्लोक के उपरान्त विष्णुशर्मा कहते हैं कि पहले चार का प्रयोग तो पाखण्डी भी करते हैं, किन्तु अन्तिम चार का प्रयोग केवल पुण्यात्मा ही करते हैं।

प्रस्तुत मनु जी के दश लक्षणों का वर्णन बहुत विस्तृत है, परन्तु संक्षेप में हम उनको इस प्रकार समझ सकते हैं –

(1) धृतिः – धैर्य दश लक्षणों में सबसे आवश्यक है, क्योंकि बिना धैर्य के कोई कार्य सरलता से पूर्ण नहीं हो सकता। जो धैर्य को खो देता है, वह जीवन में असफल हो जाता है। इसीलिये कहा गया है – **"विपदि धैर्यम्"** जो तनाव रहित होकर जीवन के किसी भी क्षेत्र में कदम रखते हैं, विजय-श्री उनका ही वरण करती है। अतएव सभी क्षेत्रों में धृति का होना धर्म का प्रथम सोपान है।

(2) क्षमा – **"क्षमा वीरस्य भूषणम्"** अर्थात् क्षमा वीर का आभूषण है। निर्बल तो क्षमा करने का अधिकारी ही नहीं हो सकता। वह तो स्वयं ही अर्ध-मृत होता है। इसी कारण कहा गया है कि –

क्षमा शोभती उस भुजंग को,
जिसके पास गरल हो॥

जिसमें शक्ति अथवा सामर्थ्य का अभाव है, वह क्षमा कर दिया, ऐसा कैसे कह सकता है ? महाभारत में भी कहा है –

क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान् धर्मकारणात्॥

(महा0 उद्यो0 39/59)

निर्बल मनुष्य अपने सामर्थ्य के कारण सबको सहन करे, परन्तु बलवान् धर्म-मर्यादा के कारण सबको क्षमा करे।

(3) दमः – वैसे तो दम का अर्थ इन्द्रिय-निग्रह होता है और शम का अर्थ मन का निग्रह होता है, परन्तु श्लोक में आगे इन्द्रिय-निग्रह भी

कहा गया है, अतः यहां दम का अर्थ मन का निग्रह ही लेना श्रेयस्कर है। गीता में कहा है –

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥
(गी0 6/34)

अर्थात् – मन इतना अधिक बलवान् और चंचल है कि इसका निग्रह वायु के नियन्त्रण से भी अधिक कठिन है।

इसलिये मन का नियन्त्रण अथवा एकाग्रता सभी कार्यों के लिए परमावश्यक है। चाहे कोई छात्र हो, वैज्ञानिक अथवा अन्य व्यक्ति हो, यदि मन के ऊपर नियन्त्रण नहीं होगा, जीवन में कभी सफल नहीं हो सकता। कहा भी है –

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः॥

मन ही बन्धन का कारण है और मन ही मोक्ष का कारण है। इसलिये किसी भी आश्रम से सम्बन्धित व्यक्ति क्यों न हो, उसको मन पर नियन्त्रण अवश्य करना चाहिए।

(4) अस्तेय – चोरी न करना। छिप कर किसी की वस्तु को चुराना चोरी कहलाता है। किन्तु जो व्यक्ति पाप से अपार धन कमाता है, वह भी चोर है। यदि कोई व्यक्ति रिश्वत लेता है, तो वह भी चोर है। जो कम तौलता है अथवा मूल्य के अनुसार पदार्थ नहीं देता, वह भी चोर है। इसीलिये सत्याचरण के लिए अपरिग्रह अथवा अस्तेय का होना आवश्यक है।

(5) शौच – स्वच्छता, मन और इन्द्रियों की। मन की स्वच्छता जीवन में आनन्द का रस घोलती है। किसी कवि ने कहा है –

जल नहाए नहाए नहीं, अन्तःकरण मलीन।
सुरापात्र को सहस्त्र बार धोए शुद्ध कभी न॥

इसीलिये सबसे पहले मन की स्वच्छता पर ध्यान देना चाहिए। पांचों ज्ञान तथा पांचों कर्मेन्द्रियों को भी स्वच्छ रखना चाहिए। इनका स्वस्थ रहना शरीर के लिए आवश्यक है। अच्छी बात सुनो, अच्छी वस्तु को देखो, सत्य वचन कहो, हाथों से दान दो, सत्सङ्ग के लिए पैरों से चलकर पहुंचो आदि शौच के उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त जिस वातावरण में रह रहे हो, वह भी स्वच्छ होना चाहिए।

(6) इन्द्रिय-निग्रह – शौच के अन्तर्गत कुछ इन्द्रियों के निग्रह की बात कह दी गई है। अन्य उदाहरण, जैसे – मांस-मदिरा का सेवन न करना, जुआ न खेलना, अश्लील दृश्यों व वस्तुओं को न देखना, सुनना अथवा कहना। ब्रह्मचर्य, सत्य कथन, हिंसा न करना, (हस्त निग्रह) दान आदि।

(7) धीः – बुद्धि। बुद्धि सभी में होती है, किन्तु उसकी सामर्थ्य में अन्तर होता है। बुद्धि जहां प्रकृति-प्रदत्त होती है, किन्तु उसे अच्छे शास्त्रों के अध्ययन और अभ्यास के द्वारा बढ़ाया जा सकता है। बुद्धि के विकास के लिए सत्सङ्गति, एकाग्रता अथवा योग आदि का अभ्यास अति आवश्यक है। बुद्धि के बिना शास्त्र भी कुछ नहीं कर सकता। कहा भी है –

यस्य नास्ति प्रज्ञा शास्त्रं करोति किम्॥

जो नेत्रहीन है, दर्पण उसका क्या कर सकता है ? इसी प्रकार शास्त्र भी बुद्धिहीन को नहीं सुधार सकता। चाणक्य ने कहा है –

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ॥

अतएव बुद्धि का तीव्र होना भी आवश्यक है, और वह बुद्धि सत्कर्म के प्रति संलग्न होनी चाहिए।

(8) विद्या – अर्थात् ज्ञान। जीवन में ज्ञान का बहुत महत्त्व है। विद्या विद्युत् के समान है, जिससे प्रकाश फैलता तथा बड़े से बड़े यन्त्र भी संचालित होते हैं; इसी प्रकार विद्या से आत्म-विकास होता है, और जीवन के अनेक क्षेत्रों में विद्या से धन, यश, अमरता प्राप्त की जा सकती है। विद्या से नम्रता आनी चाहिए –

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम् ॥

विद्या की प्रशंसा में शास्त्रों में इतनी वर्णित है कि उसकी महिमा का गान जितना किया जाय, उतना ही कम है।

विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धाइव किंशुका ॥

यहां पर मैं **"सा विद्या या विमुक्तये"** की व्याख्या करना चाहता हूं। विद्या या ज्ञान द्वारा अज्ञान से विमुक्ति मिलती है। विद्या ऐसी होनी चाहिए, जिसकी प्राप्ति के उपरान्त निर्धनता, बेरोजगारी से मुक्ति मिल सके। यदि कोई अमरता या मोक्ष चाहता है, तो विद्या से सम्भव है। इसीलिये बहुत सुन्दर कहा गया है – **"विद्ययाऽमृतमश्नुते"** और **"विद्या भारं क्रिया बिना"**। अतएव ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को कार्य में परिणित करना चाहिए, तभी विद्या की सार्थकता है।

(9) सत्य – जो तीन कालों में समान रहता है, उसे सत्य कहा जाता है। किन्तु हम देखते हैं कि युग के अनुरूप सत्य का स्वरूप बदलता रहता है। उदाहरण के लिए – युधिष्ठिर द्वारा **"अश्वत्थामा हतः नरो वा कुञ्जरो वा"** कथन सत्य की दृष्टि से अच्छाई के लिए है, अथवा ऐसी स्थिति होने योग्य सत्य था। सत्य वचन, सत्याचरण जीवन को सफल एवं विश्वसनीय बनाते हैं। इसीलिए तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है – **"सत्यं वद, धर्मं चर"**

(10) अक्रोध – क्रोध अनर्थ का मूल है। क्रोध के आने पर मानव की सोचने की शक्ति क्षीण हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं –

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

(गी0 2/63)

अतः क्रोध नहीं करना चाहिए। संक्षेप में यह मनु के धर्म के दश लक्षण की कुछ विवेचना की है। धर्म की कुछ अन्य परिभाषाएं भी भारतीय वाङ्मय में मिलती हैं। यथा –

"धर्म आचरण है केवल विश्वास का।"

(डा0. एस. राधाकृष्णन्)

"धारणाद् धर्ममित्याहुः ॥"

(महाभारत)

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

(महाभारत)

वास्तविक धर्म यह है कि जिन बातों को मनुष्य अपने लिए अच्छा नहीं समझते, वह दूसरों के साथ भी वैसी बात कदापि न करें।

"धर्म वह है, जिससे पशु मनुष्य तक और मनुष्य परमात्मा तक उठ जाता है। मानवसेवा मेरा धर्म है। (स्वामी विवेकानन्द) ❑

कभी यह भी सोच कर देखो

आचार्य अनिलेश
(हिमाचल)

(1) कितना मुश्किल है ज़िन्दगी का सफर कि भगवान् मरने भी नहीं देते और संसार के इन्सान जीने नहीं देते।

(2) खून जिस मनुष्य का भी हो, रंग सबका एक ही है, तब कैसे पता लगाया जाये कि कौन बेगाना है और कौन अपना है ?

(3) चलो माना कि दुनिया बहुत बुरी है, लेकिन तुम तो अच्छे बनो, तुम्हें किसने रोका है।

(4) जो जैसा है उसे वैसा ही अपना लो। रिश्ते निभाने आसान हो जायेंगे।

(5) प्रार्थना कभी खाली नहीं जाती, बस लोग उस प्रभु-कृपा का इन्तजार नहीं करते।

(6) हे स्वार्थ ! तेरा शुक्रिया। एक तू ही है जिसने लोगों को आपस में जोड़कर रखा है।

(7) वक़्त की मार तो देख, दुनियां जीतनेवाले सिकन्दर का देश दिवालिया हो गया।

(8) गिरना भी अच्छा है, औक़ात का पता चलता है। बढ़ते हैं जब हाथ उठाने को, तब अपनों का पता चलता है।

(9) बहुत देखा जीवन में समझदार बनकर, पर खुशी हमेशा पागल बनने पर ही मिलती है।

(10) ग़लती ज़िन्दगी का एक पन्ना है, परन्तु रिश्ते पूरी किताब हैं। ज़रूरत पड़ने पर गलती का पन्ना फाड़ देना, लेकिन एक पन्ने के लिए पूरी किताब मत फाड़ देना।

(11) ज़िन्दगी के सफर में बस इतना ही सबक सीख लो कि - सहारा कोई-कोई ही देता है, धक्का देने को हर शख़्स तैयार बैठा है।

(12) इन्सान को उस जगह हमेशा खामोश रहना चाहिए, जहां दो कौड़ी के लोग अपनी हैसियत के गुण गाते हों।

(13) धर्म से कर्म इसलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि धर्म करके भगवान् से मांगना पड़ता है, जबकि कर्म करने से भगवान् को खुद ही देना पड़ता है।

(14) कोई भी इन्सान इतना अमीर नहीं होता कि वो अपना भूतकाल खरीद सके। और कोई भी इन्सान इतना ग़रीब नहीं होता कि वो पुरुषार्थ से अपना भविष्य न बदल सके।

(15) इन्सान को अपनी औकात भूलने की बीमारी है और कुदरत के पास याद दिलाने की अचूक दवा है।

(16) छोटे-छोटे कदम मीलों का सफर तय कर सकते हैं।

(17) सब्र और सच्चाई एक ऐसी सवारी है, जो अपने सवार को ज़िन्दगी में ना तो कभी गिरने देती किसी के कदमों में और न किसी शख़्स की नज़रों में।

(18) अच्छे के साथ अच्छे रहे, लेकिन बुरे के साथ बुरे नहीं बनो। क्योंकि पानी से खून साफ कर सकते हो, लेकिन खून से खून नहीं। ❑

श्रावणी पर्व = स्वाध्यायान्मा प्रमदः

राजेन्द्र नन्दा
इन्द्रपुरी (नई दिल्ली)

आदि-काल में चार ऋषियों के अन्तःकरण में सर्वप्रथम ईश्वर ने चारों वेदों का प्रकाश किया। बाद में वह ज्ञान इन ऋषियों ने आगे आनेवाले ब्राह्मण विद्वानों को प्राप्त कराया। इस प्रकार यह वेद ज्ञान गुरु-शिष्य परम्परा से वेदों के अध्ययन-अध्यापन द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा है।

वैदिककाल में ईश्वरपूजा तथा स्वाध्याय यज्ञ केवल वैदिक सूक्तों के द्वारा ही हुआ करता था। अर्थात् जो सूक्त ईश्वर के यश का वर्णन करते थे, उनके पढ़ने-पढ़ाने का नाम ही ईश्वर पूजा था। वर्षाऋतु के श्रावणमास के श्रवण नक्षत्र सुदी पूर्णिमा से प्रारम्भ होकर पौषमास तक चार मास तक वेद पारायण यज्ञों का विशेष आयोजन किया जाता था। जब वर्षाऋतु में शहरी अथवा ग्रामीण सामान्यजन अपने कार्यों से निवृत्त हो जाते, तब वनस्थली आश्रमों में रहनेवाले ऋषि-मुनि वर्षाऋतु के प्रकोप से बचने तथा जनसामान्य को सद्ज्ञान प्राप्त कराने की इच्छा से बस्तियों के निकट आ जाते थे। उस समय श्रद्धालु श्रोतागण वेदाध्ययन के लिये उसके पास आकर वैदिक-शिक्षा के प्रवचनों द्वारा ज्ञान संवर्द्धन करते, और शरीर, मन, आत्मा की शुद्धि कर ऋषि-तर्पण करते हुए उनकी पूर्ण श्रद्धा से तन-मन-धन द्वारा सेवा किया करते थे।

श्रावणी पर्व के इस स्वाध्याय यज्ञ में यजमान यज्ञोपवीत बदलते तथा ऋषिजन यज्ञ में भाग लेने वाले उन यजमानों के हाथों में रक्षासूत्र बांधते, जो आजकल भाई-बहिन के बीच रक्षाबन्धन पर्व का रूप ले चुका है।

पौराणिक काल में इस पर्व का शुद्ध रूप लोप हो गया, और श्रावणी पर्व के नाम पर कई अवैदिक परम्पराओं जैसे सर्पों की पूजा, नदी-तालाब में स्नान, शिव-तर्पण के नाम पर मनमाने कर्म प्रचलित हो गये, और वर्षाकालीन यज्ञ का स्वरूप विकृत हो गया।

श्रावणी पर्व आर्यों का एक महत्त्वपूर्ण पर्व है। इसका सीधा सम्बन्ध वेदों के स्वाध्याय से अर्थात् उसके अध्ययन-अध्यापन से है। वैदिक पर्व समाज व राष्ट्र में जागरूकता के विशिष्ट प्रतीक होते हैं। उनके मनाने से मनुष्यों के जीवन में उत्साह एवं हर्ष का संवर्द्धन होता है। मनुष्य के एकाकी जीवन के साथ-साथ घर-परिवार-समाज एवं राष्ट्र नवचेतना एवं नवरस का संचार करते हैं। विश्व के प्राचीन धर्मशास्त्र **'मनुस्मृति'** में इस पर्व का उद्देश्य निम्न प्रकार से वर्णित किया गया है -

स्वाध्यायेनार्चयेतर्षिन्होमैर्देवान् यथाविधि।
पितृन्श्राद्धैश्च नृनन्नैर्भूतानि बलिकर्मणा॥

(मनु0 3/82)

अर्थात् - स्वाध्याय से ऋषियों की, यज्ञ से देवताओं की, श्रद्धापूर्वक सेवा से पितरों की, अन्न-सत्कारादि सेवा से अतिथियों की, तथा बलिकर्म से अन्नादि भक्ष्य देकर पशु-पक्षी-कीट आदि प्राणियों की पूजा करनी चाहिये।

यह सत्य है कि जो जातियां ऐसे शुभकर्म का अनुसरण नहीं करतीं, वह काल के अन्धकार में लुप्त हो जाती हैं। भारतवर्ष की प्रथमा संस्कृति-सभ्यता के गौरव का वर्णन करते हुए एक कवि ने सत्य ही लिखा है -

यूनानो मिश्र रोमा, सब मिट गये जहां से।
बाकी मगर है अब तक, नामो-निशां हमारा।
कुछ बात हैं कि हस्ती, मिटती नहीं हमारी।
सदियों रहा है दुश्मन, दौरे-जवां हमारा॥

श्रावणी पर्व अर्थात् स्वाध्याय यज्ञ की पुष्टि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के अनेकों मन्त्र कर रहे हैं। ऋग्वेद मण्डल सात, सूक्त 103 में 1-10 तक पर्जन्य वर्षा के उपकार का वर्णन श्लेषालङ्कार से परमात्मा ने दर्शाया है। प्राचीन समय में वृष्टिकाल की ऋतु में वेदपाठी ब्राह्मण ईश्वर के महत्त्व का वेद मन्त्रों द्वारा इस प्रकार गायन करते थे, जैसे मण्डूक (मेंढ़क) चिरनिद्रा से निकलकर सब ओर से जल-थल की हरी-भरी प्रकृति को देखकर नाना प्रकार से हर्षित होकर समवेत्-स्वर से गुंजायमान करते हैं। इसका भाव यह है कि जिस प्रकार वृत्तिवश मण्डूक स्वरभेद, रंगभेद, आकारभेद, वर्णभेद रखते हुए भी एक स्वर से गाने का प्रयत्न करते हैं, वैसे ही श्लेषालङ्कार द्वारा परमात्मा उपदेश करते हैं कि हम सब भी भेदभाव को छोड़कर एकत्त्व भावना द्वारा हर्ष-उल्लास से पवित्र वेद वाणी का अध्ययन-अध्यापन, स्वाध्याय करें और वर्षाऋतु में विशेष घृत-सामग्री के द्वारा विधिवत् यज्ञ करें, जिससे वातावरण सुगन्धित होने के साथ-साथ आपस में मेलजोल बढ़े और सब आनन्दित होकर रहें।

ऐसे ही अथर्ववेद के पर्जन्य सूक्त काण्ड 15, के 1-16 मन्त्रों में ईश्वर उपासना द्वारा वर्षा के गुणों का वर्णन कर प्रार्थना की गई है, जिससे वर्षा न कम हो और न अधिक अर्थात् जितनी आवश्यकता हो उतनी होवे, जिससे अन्न-फलादि प्रचुरमात्रा में उत्पन्न हों तथा वातावरण हर्षित होकर खिल उठे। धन-धान्य से सब जीवों का उत्तम पालन हो। परमात्मा सब ओर से सब पर मनोवांछित सुख और आनन्द की वृष्टि करे।

इसका भाव ऐसा ही है कि जैसे मेघों की वर्षा से सब लोग आनन्द पाते हैं, वैसे ही मनुष्य विद्वानों के सत्सङ्ग से लाभ उठावें। और जैसे मेघ एक देश से दूसरे देश में बरसते हैं, वैसे ही मनुष्य प्रयत्न करके देश-देशान्तरों में वेद-विद्या का प्रचार-प्रसार को फैलावें।

अतः वर्षा ऋतु में प्रत्येक वर्ष आनेवाला श्रावणीपर्व वैदिक संस्कृति-सभ्यता का प्रतीक एवं मानसिक-आध्यात्मिक चेतना जागृति का पर्व है। हम आर्यों को संकल्प लेना चाहिये कि विधिपूर्वक वेदादि का स्वाध्याय करते हुए आवश्यक वेद मन्त्रों द्वारा बृहद् यज्ञों को धूमधाम से रचावें, जिससे वेदों के अध्ययन-अध्यापन व स्वाध्याय के प्रचलन से विश्व के मानवों का कल्याण होता रहे। ❑

धर्म का मूल अष्टाङ्ग-योग का 'यम'

करणसिंह तंवर
नारायणा (नई दिल्ली)

वर्तमान समय में यदि किसी व्यक्ति से यह पूछा जाये कि उसका धर्म क्या है, तो वह फटाक से ऐसा कहेगा कि - मैं हिन्दू हूं, या मुसलमान हूं, या ईसाई हूं, या पारसी हूं, या यहूदी हूं, या जैन-बौद्ध हूं, आदि-आदि। यदि ये सब धर्म हैं तो फिर मत अथवा पन्थ क्या हैं ?

मत वा पन्थ वह होता है जो किसी व्यक्ति द्वारा अथवा उसके अनुयायियों द्वारा चलाया गया है। एक मत वा पन्थ को मानने वाले व्यक्ति उस मत-पन्थ की बातों को ही मानते हैं, अन्यों की नहीं। अतः उनका आचार-व्यवहार, रहन-सहन, खान-पान एवं पूजा-पद्धति एक प्रकार की ही हो जाती है। मत व पन्थ को मानने वालों को आस्तिक कहा जा सकता है, क्योंकि वे किसी न किसी रूप में परमात्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं।

हिन्दूधर्म में से यदि वेद को निकाल दिया जाये, तो फिर इसका प्रादुर्भाव भी या तो शिव से या विष्णु से या ब्रह्मा से या दुर्गा से या राम से या कृष्ण से माना जायेगा। इसी प्रकार मुस्लिम धर्म को मोहम्मद साहब ने चलाया। ईसाई धर्म को ईसा ने चलाया। महात्मा बुद्ध ने बौद्ध धर्म को, भगवान् महावीर ने जैन धर्म को चलाया आदि-आदि। अतएव ये सब पन्थ हैं, धर्म नहीं।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार धर्म शब्द **'धृ'** धातु से बना है। **'धृ'** का अर्थ धारण करना है। अतः धर्म का अर्थ हुआ - धारण करने योग्य; अर्थात् अपनाने योग्य। महाभारत के अनुसार **"अहिंसा परमो धर्मः"** अर्थात् वैर भाव का त्याग सबसे बड़ा धर्म है। मनुस्मृति में मनु महाराज लिखते हैं - **"आचारः परमो धर्मः"** अर्थात् शुभ गुणों के आचरण का नाम ही धर्म है। वे यह भी लिखते हैं कि - **"न लिङ्गं धर्म कारणम्"** अर्थात् बाहरी चिह्न किसी को धर्मात्मा या अधर्मात्मा नहीं बनाते हैं। काला या पीला चोगा पहनना, कण्ठी-माला धारण करना, तिलक लगाना, जटा बढ़ाना आदि बातों का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मनुस्मृति में ही महर्षि मनु ने धर्म के दश लक्षण बताए हैं। वह श्लोक इस प्रकार है -

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

(मनु0 6/92)

इस श्लोक में वर्णित धर्म के दश लक्षणों पर विचार करते हैं -

(1) धृति = इसका अर्थ है, सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान में धैर्य रखना।

(2) क्षमा = सहनशीलता को क्षमा कहते हैं। बलवान् होकर निर्बल को कष्ट दिया और निर्बल

ने सह लिया, यह क्षमा नहीं है। शरीर में सामर्थ्य होने पर भी बुराई का बदला न लेना 'क्षमा' है।

(3) दम = मन को बुरे चिन्तन से हटाकर अच्छे कामों में लगाना 'दम' कहलाता है।

(4) अस्तेय = अन्याय से धन आदि ग्रहण न करना तथा बिना आज्ञा दूसरे का पदार्थ न लेना ही 'अस्तेय' है।

(5) शौच = इसका अर्थ है - शरीर की तथा बाहर की शुद्धि रखना। बाहर की शुद्धि से रोग उत्पन्न नहीं होते, जिससे मानसिक प्रसन्नता बनी रहती है। अन्दर की शुद्धि राग-द्वेष आदि के त्याग से होती है। इसी के साथ भोजन, वस्त्र, स्थान, मार्ग, घर, दुकान आदि सब प्रकार की शुद्धि भी जुड़ी है।

(6) इन्द्रिय-निग्रह = अपनी इन्द्रियों अर्थात् हाथ, पांव, मुख आदि को अच्छे कामों में लगाना ही 'इन्द्रिय-निग्रह' है।

(7) धी = धी का अर्थ है - बुद्धि को बढ़ाना। बुद्धि बढ़ती है मांस-शराब-तम्बाकू आदि नशीले पदार्थों के त्याग से, ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्य रक्षा से, अच्छी पुस्तकों के अध्ययन से, उत्तम औषधियों के सेवन से, और दुष्टों के सङ्ग व आलस्य के त्याग से।

(8) विद्या = पृथिवी के तिनके से लेकर द्यौलोक पर्यन्त सभी पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना तथा उनसे यथार्थ उपकार लेना।

(9) सत्य = जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा ही मानना, वैसा ही कहना और वैसा ही करना 'सत्य' कहलाता है।

(10) अक्रोध = अति क्रोध जो है उसका परित्याग करना 'अक्रोध' कहाता है।

उपरोक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट होती है कि जिस व्यक्ति में अथवा व्यक्तियों के समूह के आचार-व्यवहार में ये दश लक्षण पाये जाते हैं, वे धर्म का पालन करते हैं, और वे धार्मिक कहलाते हैं।

वस्तुतः मानवीय गुणों को अपनाना ही सब मनुष्यों का धर्म है। महर्षि दयानन्द सरस्वती जी धर्म की परिभाषा इस प्रकार करते हैं -

"जो पक्षपात रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का सर्वथा परित्यागरूप आचार है, उसी का नाम धर्म है, और इसके विपरीत जो पक्षपातसहित अन्यायाचरण सत्य का त्याग और असत्य का ग्रहणरूप कर्म है, उसी का अधर्म कहते हैं।"

निष्कर्ष रूप से अब हम धर्म को यूं परिभाषित कर सकते हैं - "ऐसे मौलिक सिद्धान्त जो मनुष्य की शारीरिक-आत्मिक और सामाजिक उन्नति के आधार हों, धर्म कहलाते हैं। जैसे - सत्य ही धर्म है, असत्य ही अधर्म है। न्याय ही धर्म है और अन्याय अधर्म है। निष्पक्षता होना धर्म है और पक्षपात का होना अधर्म है।

उपरोक्त सभी बातें हिन्दू भी स्वीकार करता है और मुसलमान भी, ईसाई भी, पारसी भी, यहूदी भी, जैन भी, सिख भी और बौद्ध भी। इन सिद्धान्तों पर किसी मत-पन्थ में कोई विवाद अथवा अस्वीकृति नहीं है, अतः ये सिद्धान्त ही सर्वमान्य एवं सार्वभौम सिद्धान्त हैं। अतएव ये ही मानव का धर्म है, जो निस्सन्देह वेदों से

स्रवित होता है। चूंकि वेदज्ञान परमात्मा द्वारा चार ऋषियों के माध्यम से सृष्टि के प्रारम्भ में मानव कल्याण एव सृष्टि के सुचारू रूप से संचालन हेतु मनुष्य को प्राप्त हुआ। मानवमात्र पर यह परमात्मा की अहैतुकी-कृपा है।

वेदों के प्रकाण्ड पण्डित, योगीराज महर्षि दयानन्द सरस्वती जी अन्य मत-मतान्तरों का अध्ययन करने के उपरान्त सत्यार्थप्रकाश में घोषणा करते हैं कि -

"अन्य जितने भी मत-मतान्तर पृथिवी पर प्रचलित हैं, उनमें जो-जो बातें सत्य हैं वे सब वेद ही हैं, जो मान्य हैं; और जो बातें वेद विरुद्ध हैं वे सब असत्य और अमान्य हैं।"

आयावर्त्त की पुण्यभूमि में जितने भी ऋषि-मुनि हुए, उन सबकी बातें वेदों के अनुकूल हैं। महर्षि पतञ्जलि ने ईश्वर सानिध्य प्राप्त करने के लिए आठ सूत्री सिद्धान्त **"अष्टाङ्ग-योग"** को प्रतिपादित किया है। इस अष्टाङ्ग-योग के आठ अङ्ग इस प्रकार हैं -

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणा ध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ (यो0द0 2/29)

अर्थात् - (1) यम (2) नियम (3) आसन (4) प्राणायाम (5) प्रत्याहार (6) धारणा (7) ध्यान (8) समाधि - यह योग के आठ अङ्ग हैं।

अष्टाङ्ग-योग में पहला अङ्ग **"यम"** सामाजिक है, तथा शेष सातों अङ्ग व्यक्तिगत हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥
(योगदर्शन 2/30)

अर्थात् - 'यम' अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह में बंटा हुआ है तथा अहिंसा आदि में कर्त्ता के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों या प्राणियों का होना आवश्यक है, जबकि अन्य अङ्गों नियम, आसन, प्राणायाम आदि में कर्त्ता के अतिरिक्त अन्यों का होना आवश्यक नहीं है।

पतञ्जलि ने योगदर्शन में **अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य** तथा **अपरिग्रह** को 'यम' कहा है। यम का अर्थ है - नियमन करना, अनुशासन में बांध देना। आइये 'यम' के प्रत्येक भाग पर विचार करें -

(क) अहिंसा - अहिंसा सार्वभौम-धर्म है। सार्वभौम का अर्थ है -जो हर देश-काल तथा जाति पर एकसा लागू हो। राज्य का सारा सङ्गठन हिंसा को रोकने के लिए है। पुलिस, फौज, अस्त्र-शस्त्र, गोली-बारूद, तोप-बन्दूक - ये सब हिंसा को रोकने के लिए ही बने हैं। अहिंसा का अर्थ है - खुद जीओ और दूसरों को भी जीने दो। मानव सिद्धान्त न केवल दूसरे को जीने देने का है, अपितु दूसरे के लिए अपने जीवन को बलिदान कर देने का भी है। जो लोग अपने को दूसरों के लिए कुर्बान करते हैं, वे पूजे जाते हैं।

(ख) सत्य - सत्य भी सार्वभौमिक-धर्म है। सत्य वह है जो मन में हो वही वाणी में हो, और जो वाणी में हो वही कर्म में होना चाहिये। आज का जीवन इससे उल्टा चल रहा है। हम जो मन में सोचते हैं, वह जुबान पर नहीं आने देते और जो जुबान से कहते हैं, उसे करने का हमारा इरादा नहीं होता। अर्थात् हम सोचते कुछ है, कहते कुछ हैं, और करते कुछ हैं।

असत्य के कारण आज का जीवन कृत्रिम हो गया है। दूसरों का खून चूसनेवाला यह चाहता है कि दुनिया उसे दयालु कहे। झूंठ बोलनेवाला चाहता है कि लोग उसे सच्चा और ईमानदार कहें। हमारा वैयक्तिक जीवन तथा सामाजिक जीवन कृत्रिमता से परिपूर्ण है। कुछ मानते हैं कि दुनिया में असत्य ही चलता है। परन्तु ऐसा नहीं है, अन्त तक टिकनेवाला असत्य नहीं, सत्य ही है।

(ग) अस्तेय – अस्तेय का अर्थ है – चोरी न करना। चोरी क्या है ? जो वस्तु दूसरे की है, उसे छल-कपट से दूसरे के बिना जाने, उड़ा लेने का नाम चोरी है। जबरदस्ती छीन लेने का नाम डाका है।

आज के युग में सब कुछ उलटा हो गया है। अपने-अपने दायरे में हम सब चोर हैं। डाक्टर का उद्देश्य मरीज का ठीक करना इतना नहीं, जितना उसकी जेब को साफ करना है। वकील का उद्देश्य सच्चाई को सामने लाने का इतना नहीं, जितना मुवक्किल की जेब कतरना है। पुलिस के किस्से हम प्रतिदिन अख़बारों में पढ़ते रहते हैं। पुलिस के फन्दे में एक बार फंसा आदमी उसमें से निकल नहीं सकता। यह चोरी, ठगी या डाका नहीं तो क्या है ? यह सभ्य समाज की कानूनी मोहर लगा हुआ डाका है।

यही नहीं, दुकानदार खरा पैसा लेकर खोटा माल देना चाहता है, पुलिसमैन रिश्वत लेकर इंसाफ को बेचना चाहता है, धर्मगुरु चेलों से दान-दक्षिणा लेकर उन्हें निरा उल्लू बनाना चाहता है। आज की दुनिया को पैसे का रोग हो गया है। यही कारण है कि डाक्टर, वकील, अध्यापक, दुकानदार सभी पैसे के दीवाने हो गये हैं। अतः स्तेय सार्वभौम धर्म नहीं हो सकता। अस्तेय को ही सार्वभौम धर्म कहा जा सकता है। क्योंकि अस्तेय का जीवन जीने से ही समाज बना रह सकता है। यदि स्तेय, चोरी, छीना-झपटी का रास्ता पकड़े, तो दुनिया चल नहीं सकती है।

(घ) ब्रह्मचर्य – यह शब्द 'ब्रह्म' तथा 'चर्य' इन दो शब्दों से बना है। ब्रह्म का अर्थ है – बड़ा, विशाल। चर्य का अर्थ है – विचरण करना। अतः ब्रह्मचर्य का अर्थ हुआ – ब्रह्म में विचरण करना, ईश्वर में विचरण करना या महत्ता में विचरण करना, अपने जीवन को छोटे से बड़ा बनाने का प्रयत्न करना।

ब्रह्मचर्य का एक दूसरा भी अर्थ है – इन्द्रियों का संयम करना। इसका एक तीसरा भी अर्थ है – कामवासना का संयम करना, अर्थात् विषय-वासना से मुक्ति। आज हमारा समाज सैक्स-प्रधान हो गया है। सिनेमा, टेलीवीजन, पत्र-पत्रिकाएं, वेशभूषा में सैक्स दिखलाई देता है। हमारे शास्त्रों में कहा है कि – वासनायें भोगने से नहीं निबटती, जितना उन्हें भोगा जायेगा, उतनी ही वासनायें प्रचण्ड होती हैं, तभी तो महर्षि मनु जी लिखते हैं –

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

(मनु0 2/94)

हम संसार को भोगने के लिये आये हैं, भोगे जाने के लिये नहीं। इसी भावना को ब्रह्मचर्य नाम दिया गया है। अतएव हम संसार में ब्रह्मचर्य

का पालन करके बड़े-बड़े अर्थात् शारीरिक तथा आत्मिक विकास करें, छोटे ही न बने रहें।

(ङ) अपरिग्रह - अपरिग्रह शब्द परिग्रह का उलटा है। 'परिग्रह' दो शब्दों से बना है - परि+ग्रह। परि का अर्थ है - चारों ओर से, पकड़ लेना, घेर लेना, समेट लेना। हमारा जीवन परिग्रह का है। हम हर वस्तुओं को चाहे वह हमारे काम की हो या न हो, पकड़े बैठे हैं। किसी चीज़ को छोड़ने के लिए तैयार नहीं। संग्रह करना हमारा स्वभाव बन गया है।

परिग्रह तथा अपरिग्रह में सूक्ष्म भेद है। परिग्रह में जिस चीज की आवश्यकता न भी हो, उसे भी मनुष्य नहीं छोड़ता, उससे चिपटा रहता है। अपरिग्रह में जिस चीज की मनुष्य को आवश्यकता हो, उसे भी वह छोड़ने का प्रयत्न करता है, उसके बिना काम चल जाये, वह चाहता है। परिग्रही सामान को जोड़ता जाता है, अपरिग्रही सामान को छोड़ता जाता है। परिग्रही पकड़ता जाता है, समेटता जाता है, तथा अपरिग्रही यदि उस सामान के बिना कार्य चल सके तो चलाता है। भौतिक दृष्टि से विचार किया जाये तो हम अपनी आवश्यकताओं को बढ़ाते जाते हैं। हमें एक की जरूरत हो तो दो, दो की जरूरत हो तो चार ले बैठते हैं। अपरिग्रह का सीधा अर्थ है - आवश्यकताओं को घटाना। आवश्यकतायें बढ़ाने का कोई अन्त नहीं है। अतएव अपरिग्रह का अर्थ हुआ - त्याग, संसार के बन्धनों से निकलना, धन में डूबे न रहना, सांसारिक बन्धनों में जकड़े न रहना, जो कुछ समेटा हुआ है, उसे छोड़ने के लिए तैयार रहना।

योगदर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने अष्टाङ्ग योग के यम के पांच भाग अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह बताए हैं, और मनु महाराज ने धर्म के दश लक्षण धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य तथा अक्रोध बताए हैं; दोनों समान हैं। सत्य तथा अस्तेय को दोनों ने माना है। पतञ्जलि ने अहिंसा तो मनु ने उसके स्थान पर क्षमा को रखा है। इसी प्रकार पतञ्जलि ने ब्रह्मचर्य तो मनु ने उसके स्थान पर इन्द्रिय-निग्रह शब्द रखा है। अब यदि यह कहा जाये कि महर्षि पतञ्जलि ने मनु महाराज के धर्म के दश लक्षणों को पांच लक्षणों में समट दिया है, तो कोई अतिश्योक्ति न होगी। दोनों ऋषियों की बातें अलग-अलग नहीं हैं, और न विरोधी ही। दोनों की बातें एक-दूसरे की पूरक हैं। अतः हम यही कह सकते हैं कि मनु द्वारा निर्दिष्ट धर्म के दश लक्षणों को पतञ्जलि ने पांच लक्षणों में समेट दिया है, अथवा पतञ्जलि के पांच लक्षणों को मनु ने दश लक्षणों में विस्तृतता प्रदान की है।

वस्तुतः यम अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ही धर्म के सार्वभौमिक सिद्धान्त हैं। इनको धारण करके ही मनुष्य धर्म को धारण कर सकता है, किसी मत-पन्थ में सम्मिलित होकर नहीं। इन लक्षणों के पालन से समाज में समरसता, सद्भावना, प्रीति, सौहार्द, भ्रातृभाव स्थापित होता है, तथा व्यक्ति का शारीरिक-आत्मिक-बौद्धिक एवं सामाजिक विकास होता है, अतः इनको अपनाने में ही मानव कल्याण है। ❑

धर्म की विशेषताएं

रणवीर सिंह
नारायण विहार (नई दिल्ली)

"आर्योद्देश्यरत्नमाला" में अंकित धर्म को महर्षि देव दयानन्द ने इस प्रकार परिभाषित किया है –

"जिसका स्वरूप ईश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन और पक्षपातरहित न्याय सर्वहित करना है, जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सुपरीक्षित और वेदोक्त होने से सब मनुष्यों के लिए यही एक धर्म मानना योग्य है, उसको 'धर्म' कहते हैं।"

(आर्यो0 2)

सरलभाषा में हम यह कह सकते हैं कि परमेश्वर द्वारा मानव हित में रचित निर्देशों के पालन करने को ही **धर्म** कहते हैं।

परन्तु जैसे-जैसे हमारे जीवन में नई-नई समस्याएं आती हैं, और उन समस्याओं का समाधान हम अपनी सामर्थ्य से अथवा दूसरों की सहायता से खोजते हैं, धर्म की परिभाषा व्यापकरूप ले ही लेती है।

हमारे ऋषियों ने मनुष्य जीवन में आनेवाली सभी समस्याओं का समाधान करने का प्रयत्न किया है। समस्या के उचित समाधान को ही उन्होंने धर्म कहा है। जहां कहीं समस्या है, वहां उनके समाधान के लिये धर्म उपस्थित होता है। हमारी संस्कृति में सेवा कार्य को ही धर्म कहा गया है।

धर्म जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है, जिसके बिना मनुष्यता जीवित नहीं रह सकती। उसके बिना हमारा व्यवहार या व्यापार कुछ भी काम नहीं रहता, इसीलिये धर्म की जीवन में अति आवश्यकता है। शास्त्रों के अनुसार अपनी आत्मा के विपरीत व्यवहार किसी से न करे। जो आपको पसन्द है, वही व्यवहार दूसरों के साथ करें, इसी का नाम धर्म है। यदि हम चाहते हैं कि हमारा मान समाज में बढ़े, हमारा सब सम्मान करें, तो हमें दूसरों का भी सम्मान करना सीखना चाहिये। जैसे हमें अपना अपमान बुरा लगता है, वैसे ही दूसरों को भी अपमान बुरा लगता है। जो हम अपने लिए चाहते हैं, वही व्यवहार यदि हम दूसरों के साथ करना प्रारम्भ कर दें, तो यह हमारा धार्मिकता की ओर बढ़ाया हुआ प्रथम कदम होगा।

यद्यपि प्रतीक-चिह्नों से हमें धर्म की प्रेरणा मिलती है, परन्तु उन प्रतीकों को धर्म नहीं कहा जा सकता। तिलक लगाना चिह्न है, वह हमें धर्म की ओर इंगित करता है, परन्तु वह धर्म नहीं है। किसी भी चिह्न को धारण कर लेने से कोई व्यक्ति धार्मिक नहीं हो जाता। धार्मिक होने का अर्थ है कि हमारे आचरण में या जीवन में कुछ परिवर्तन आया हो, तभी हम धार्मिकता की ओर अपना झुकाव मान सकते हैं।

धार्मिकता की ओर बढ़ते कदमों का हमें अपने आप भान होना प्रारम्भ हो जाता है। हम उस प्रभु से अपने स्थान पर दूसरों के लिए मांगना प्रारम्भ कर देते हैं - हे प्रभु ! आप सबके दुःख दूर करें, सभी सुखी व निरोगी हों तथा सब एक-दूसरे का भला करें और एक-दूसरे का भला सोचें, किसी को किसी से दुःख न हो।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

यह पवित्र भावना यदि हमारे चित्त में उमड़ती- घुमड़ती हो, तो समझो हम धार्मिकता की ओर अग्रसरित हो रहे हैं।

महाराज शिवि अनेक कठोर तप तथा राज्य पालन का कार्य करने के पश्चात् जब भी भगवान् से प्रार्थना करते थे, तो वह प्रभु से यही कहा करते थे -

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्त्तनाशनम्॥

अर्थात् - हे पिता ! मैं आपसे स्वर्ग नहीं चाहता, बड़े भारी राज्य की कामना नहीं है, मुझे मोक्ष नहीं चाहिए, मेरी तो एक ही प्रार्थना है कि संसार में जितने भी दुःखी लोग हैं, उन सबके दुःख-दर्द को मिटाने की मुझे शक्ति दे दो। बस, यही वरदान मैं आपसे चाहता हूं।

महर्षि चाणक्य ने भी सज्जनों और धार्मिक महापुरुषों के गुणों एवं विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा है कि -

धर्म तत्परता मुखे मधुरता दाने समुत्साहिता।
मित्रेऽवञ्चकता गुरौ विनयिता चित्तेऽतिगति गम्भीरता।
आचारे शुचिता गुणौ रसिकता शास्त्रेऽति विज्ञानिता।
रूपे सुन्दरता हरौ भजनिता सत्सेवेत सदृश्यते॥

अर्थात् - धर्म में तत्परता, वाणी में मधुरता, दान में उत्साह, मित्रों से निष्कपट एवं शुद्ध-हृदय से व्यवहार, गुरुजनों व आदरणीय लोगों के प्रति विनम्रता, चित्त में गम्भीरता, आचार-विचार में पवित्रता, गुण ग्रहण से रसपूर्ण प्रवृत्ति, शास्त्र में विश्लेषणात्मक रुचि, रूप में सुन्दरता और प्रभु-स्मरण में लगन - ये ग्यारह गुण सज्जनों में पाये जाते हैं।

कौटिल्य ने इस बात को विशेष रूप से निर्दिष्ट किया है कि सत्य का आचरण करने वाला व्यक्ति कदाचित् सत्य की साधना करते-करते इन समस्त गुणों को प्राप्त कर लेता है।

'धर्मे तत्परता' अर्थात् धर्म के पालन में सदा सर्वदा तैयार रहना।

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः॥

अर्थात् - जिन बातों विचारों एवं सिद्धान्तों की स्वीकृति एवं अनुसरण करने से **अभ्युदय** (सामाजिक उन्नति) तथा **निःश्रेयस्** (मोक्ष) की सिद्धि होती है, वह धर्म है। **अभ्युदय** अर्थात् व्यवहारिक एवं भौतिक विकास और **निःश्रेयस्** अर्थात् आध्यात्मिक विकास।

मनुष्य जीवन को पूर्ण एवं स्वस्थ रीति से जीने के लिए भारतीय मनीषियों ने पुरुषार्थ चतुष्टय के सिद्धान्त की स्थापना की है। **धर्म, अर्थ, काम** और **मोक्ष** - इन चारों पुरुषार्थों में **धर्म** का सर्वप्रथम परिगणन किया गया है।

अहिंसा, सत्य, दया, शान्ति, ब्रह्मचर्य, शम, दम, तितिक्षा, यज्ञ, दान, तप, अध्ययन-अध्यापन, प्रजापालन, कृषि, पशुपालन और सेवा जितने भी वर्णाश्रम के अनुसार शास्त्रविहित शुभ

कर्म हैं, तथा जो दूसरों के हित के कर्म हैं, उन सबका नाम धर्म है।

शास्त्रों में धर्म की बड़ी महिमा है। बृहद्धर्म पुराण में कहा है –

सत्यं दया तथा शान्तिः अहिंसा चेति कीर्तिता।
धर्मस्यावयवास्तात ! चत्वारः पूर्णतां गता ॥

इस विश्व की रक्षा करनेवाले वृषभरूप धर्म के चार पैर माने जाते हैं। ये हैं – सत्य, दया, शान्ति और अहिंसा। सतयुग में चारों पैर पूरे होते हैं, त्रेता में तीन, द्वापर में दो तथा कलियुग में एक ही पैर रह जाता है। इस धर्म का थोड़ा सा भी आचरण परम लाभदायक है, और इसके विपरीत आचरण महान् हानिकारक है। तभी तो धर्म के इस सार एवं उसके तत्त्व रहस्य को समझ कर स्वधर्म अर्थात् निज-कर्त्तव्य का पूर्ण निष्ठा के साथ पालन करने के निमित्त ही महर्षि चाणक्य जी ने सत्पुरुषों के ग्यारह लक्षणों में से प्रथम लक्षण को प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट कहा है – **"धर्मे तत्परता"** अर्थात् धर्म के कार्यों में तत्पर रहना, यह सज्जनों का स्वाभाविक गुण है।

वर्त्तमान साहित्य के द्वारा मनुष्यों को धर्म का ऐसा मार्ग प्रदर्शित किया जाना चाहिये, जिससे वे सांसारिक उन्नति व विकास कर सकें। पर उसे ही मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य न मानकर, मोक्ष प्राप्ति के चरम उद्देश्य को विशिष्ट दृष्टि में रक्खें और उस तक पहुंचने के लिये प्रयत्न भी करें। इसीलिये कहा है –

देहस्य मोक्षो न मोक्षो, न दण्डस्य कमण्डलो।
अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्ततः ॥

(वि0 चू0 559)

अर्थात् – शरीर को त्याग देना अथवा संन्यास के साधन दण्ड और कमण्डल को त्याग देने का नाम मोक्ष नहीं है। मोक्ष का स्पष्ट अभिप्राय मात्र यही है कि अविद्या रूपी ग्रन्थियों को समाप्त कर दिया जाय। जिस दिन अविद्यारूपी ग्रन्थियां समाप्त हो जायेंगी, उसी दिन समझ लो कि मोक्ष प्राप्त हो गया।

इसलिये हमारे सद्ग्रन्थों के लिये यह परम आवश्यक है कि उसके ज्ञान के द्वारा लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक मोक्ष दोनों के उपाय प्रतिपादित किये जायें। संसार में सम्भवतः कोई भी अन्य ऐसा धर्मग्रन्थ नहीं है, चाहे वह कुरान और बाईबिल जैसे माने जाने वाले ग्रन्थ क्यों न हों अथवा वेदों पर आधारित स्मृतिग्रन्थ या गीता जैसे प्राचीन शास्त्र, जिसमें कि धर्म के इन दोनों प्रयोजनों (अभ्युदय और निःश्रेयस) का इस प्रकार अविकल रूप से प्रतिपादन किया गया हो, जैसा कि महर्षि देव दयानन्द द्वारा रचित 'सत्यार्थप्रकाश' में है। इसी कारण इसे सर्वाङ्ग धर्मशास्त्र कहा गया है।

हमारे राष्ट्र के महर्षियों द्वारा प्रतिपादित यह धर्म ही तो अन्य राष्ट्रों से सर्वोपरि है। इसी राष्ट्रधर्म को सत्यता से अपने आचरण में लाकर हमारे शहीदों ने राष्ट्र की स्वतन्त्रता की लड़ाई में हंसते-हंसते अपने प्राणों की आहुतियां दे दी और हमें स्वराज दिलाया। इसी धर्म के आधार पर तो हमारा राष्ट्र प्राचीन समय में सोने की चिड़िया कहलाता था। यह हमारा धर्म ही तो है, जो हमें अन्य राष्ट्रों से पृथक् कर समस्त भारतीयों में एक विशिष्टता प्रदान करता है।

❑

अष्टाङ्ग-पथ ही धर्म का आधार

आचार्य श्याम
नारायण विहार (नई दिल्ली)

भारतीय वाङ्मय में प्रत्येक मानव-जीवन को धर्म के साथ जोड़ते हुए यहां तक कहा है - **"धर्मेण हीना पशुभिः समाना"** धर्म से हीन मनुष्य पशु के समान है। जैसे ताप के बिना आग, शीतलता के बिना जल और गन्ध के बिना पुष्प का कोई मूल्य नहीं, ठीक उसी प्रकार बिना धर्म के मनुष्य-जीवन का भी कोई मूल्य नहीं है। धर्म जीवन का वह सार भाग है, जिसके बिना मनुष्य की पशुओं में गणना की जाती है, और की जाती रहेगी। धर्म उन शाश्वत मूल्यों व नियमों का नाम है, जिनके कारण मनुष्य, मनुष्य कहलाने का अधिकारी बनता है। मनुष्य शब्द की जहां शास्त्रों में अनेकों परिभाषायें निहित हैं, उनमें सबसे प्रमुख है - **"मननात् मनुष्यः"** अर्थात् मनन करने के कारण मनुष्य, मनुष्य है।

संसार में जितने भी कृमि-कीट-पतंग हैं, उनके मनन करने की निश्चित सीमा है। कारण - निश्चित बुद्धि, निश्चित सामर्थ्य और निश्चित् ज्ञान है, जिसे **'स्वाभाविक ज्ञान'** भी कहा जाता है। परन्तु मनुष्य के पास स्वाभाविक ज्ञान के अतिरिक्त नैमित्तिक ज्ञान भी है। नैमित्तिक ज्ञान का सम्बन्ध जब स्वाभाविक ज्ञान से किया जाता है, अथवा स्वाभाविक ज्ञान को नैमित्तिक ज्ञान से जोड़ा जाता है, तो उस ज्ञान की सीमा निश्चित नहीं रहती, और वह बहुत अधिक बढ़ जाती है। उस वर्धित ज्ञान से मनुष्य मनन पूर्वक श्रेष्ठ कर्म करने में समर्थ हो जाता है। पर यदि शक्ति का दुरुपयोग मनुष्य ने अधर्म में व्यय कर दिया, तो उतना ही वह अधिक विनाश कर सकता है। इसलिये धर्म और अधर्म के दोनों रूपों पर विचार करते हुए प्राचीन मनीषियों ने धर्म के कुछ मार्गों का निश्चय किया, जिससे मनुष्य धर्म का संचय तो करे, पर अधर्म का नहीं। यदि वह धर्म का संचय निरन्तर करता रहा, तो फिर उसकी सम्पूर्ण शक्ति जब धर्मार्जन में व्यय होगी, तो वह स्वयं धार्मिक बन जायेगा। उसके प्रत्येक कर्म में धर्म की गन्ध आने लगेगी, उसका प्रत्येक कार्य धर्मपूर्वक होगा, फिर वह **'स्व'** की उन्नति की भावना न रख **"इदं न मम"** की भावना से मानव-मात्र का ही नहीं, बल्कि प्राणी-मात्र का कल्याण करने में अपना जीवन लगा देगा।

अब प्रश्न होता है कि वह कौन-सा द्वार अथवा रास्ता है, जिनसे धर्म अर्जित कर मनुष्य धार्मिक बनकर इहलौकिक और पारलौकिक सुख को प्राप्त कर सकता है। उसके लिये शास्त्रों में कहा है -

इज्याध्ययन दानानि तपः सत्यं क्षमाघृणा।
अलोभइतिमार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥

अर्थात् - यज्ञ, अध्ययन, दान, तप, सत्य, क्षमा, दया और निर्लोभता - ये आठ प्रकार के धर्म के रास्ते अथवा धर्म के द्वार हैं।

आईये, थोड़ा-सा इन आठ बिन्दुओं पर विचार कर लें, जिससे कि हम भी धर्म को स्व-जीवन में अर्जित करने का भाव दृढ़ कर सकें।

(1) यज्ञ - यज्ञ का वैसे तो अर्थ है - **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्मः"** श्रेष्ठतम कर्म का नाम यज्ञ है। परन्तु उस श्रेष्ठतम कर्म का अभ्यास मनुष्य का बन जाये, इसीलिये प्राचीन ऋषि-मुनियों ने यज्ञ शब्द को पांच परिधियों में अनिवार्य रूप से जोड़ा। यदि ये पांचों यज्ञ किसी जीवन में जुड़ जायें, तो समझो कि वह मनुष्य केवल यज्ञ ही नहीं कर रहा, बल्कि वह 'महायज्ञ' कर रहा है। परन्तु ये महायज्ञ तभी बनेंगे, जब इनका परिपालन अनिवार्य रूप में किया जायेगा। जैसे भोजन करना, श्वॉस-प्रश्वॉस का लेना-छोड़ना, मल-मूत्र विसर्जन का कार्य जीवन के लिए अनिवार्य है, उसी प्रकार से नैत्यिक कर्मों में जब मनुष्य इन कर्मों को संयुक्त कर लेता है, तो वे यज्ञ 'महायज्ञ' बन जाते हैं। उन महायज्ञों के नाम निम्न प्रकार से हैं -

(1) ब्रह्मयज्ञ (2) देवयज्ञ (3) बलिवैश्वदेव यज्ञ (4) पितृयज्ञ और (5) अतिथि यज्ञ।

इन पांचों यज्ञों की विस्तृत व्याख्या में न जाकर, संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि- जो प्रभु-स्मरण तथा मन्त्रानुष्ठान आदि का कार्य प्रभु का धन्यवाद सहित अपने को सर्वार्पण के भाव से सन्ध्या के रूप में किया जाता है, उसका नाम **ब्रह्मयज्ञ** है।

जो कार्य प्राकृतिक देवताओं की अनुकूलता प्राप्त करने के लिये किया जाता है, वह **देवयज्ञ** है। यहां इस बात का प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन स्मरण करना चाहिये कि जब हम प्रतिदिन प्रकृति के भण्डार में से शुद्ध वायु-जल, खाद्यपदार्थ तथा अन्य जीवनोपयोगी सामग्री लेते हैं, और अपने शरीर व कार्य से अपवित्रता का निस्सरण करते हैं, तो उन प्राकृतिक देवों के पास अपवित्रता न पहुंचे, और प्रकृति का सन्तुलन सम्यक् बना रहे, उसके लिए अग्निहोत्र के माध्यम से शुद्ध घृत-सामग्री से प्रतिदिन यज्ञ करना **'देवयज्ञ'** कहलाता है। महर्षि दयानन्द जी की मान्यता है कि जो प्राकृतिक देवों से अपने जीवन के लिए सब कुछ अच्छा ही अच्छा लेता है, पर उसके बदले में प्राकृतिक देवों के पवित्रता के यज्ञ में अपनी किसी भी प्रकार से आहुति नहीं देता, वह मनुष्य पापी है। अतः पाप से बचने का साधन ही **'देवयज्ञ'** है।

मनुष्य के जीवन के साथ-साथ प्राकृतिक पदार्थों का ही नहीं, वरन् संसार में मनुष्य से इतर जितने भी प्राणी हैं, वे भी प्रत्यक्ष व परोक्षरूप में प्रकृति का सन्तुलन करते हुए मनुष्य का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में उपकार करते हैं, उन प्राणियों के रक्षण-पोषण और संवर्द्धन करने के निमित्त यज्ञ में आहुति देकर तथा प्रत्यक्षरूप से उनका अन्नादि से पोषण करने के निमित्त जो कार्य किया जाता है, वह कार्य **'बलिवैश्वदेव यज्ञ'** कहलाता है।

जिन माता-पिता, दादा-दादी आदि पितरों के माध्यम से मनुष्य स्वयं पालित और पोषित होता है, उनकी भी यथाशक्ति आवश्यकतानुसार भोजन-वसन तथा व्यवहार से अपने समान धारण-पोषण करने का कार्य **'पितृयज्ञ'** कहलाता है।

इसके अतिरिक्त वे पितर जो घर के तो नहीं होते, पर उनकी समाज में बहुत बड़ी भूमिका रहती है, वे यत्र-तत्र विचरण कर श्रेष्ठ विचारों से समाज का संरक्षण करते हैं, तथा दुष्ट विचारों के निवारणार्थ निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं, ऐसे सन्त-महात्मा-विद्वान् के आकस्मिक आगमन को अपना सौभाग्य मानकर उनकी हर प्रकार से सेवा-शुश्रूषा कर उनके सदुपदेश को प्राप्त करना **'अतिथि यज्ञ'** कहलाता है।

इन पांच यज्ञों को जो मनुष्य प्रतिदिन करता है, वह कभी अधार्मिक नहीं रह सकता, उसके अन्दर अधर्म की भावना नहीं रह सकती। शायद इसी कारण से धर्म का रास्ता तथा धर्म का द्वार **'यज्ञ'** कहा गया है।

इसीलिये यज्ञ का सन्देश देते हुए शास्त्र बार-बार कहते हैं - **"स्वर्ग कामो यजेत्"** अर्थात् जीवन में यदि सुख की कामना है, तो अपना जीवन यज्ञमय बनाओ।

(2) अध्ययन - यहां अध्ययन शब्द का अभिप्राय सद्ग्रन्थों के स्वाध्याय से है। हम सब जानते हैं कि मनुष्य भोजन से ही नहीं जीता, वह विचारों से भी जीता है। मन और बुद्धि उसके पास दो साधन ऐसे हैं, जिनसे वह विचारों का व्यापार तथा उनके निर्णय के आधार पर कर्म करता है। मनुष्य का जैसा विचार होगा, कर्म वैसे ही होंगे। परहित का विचार करनेवाला परोपकार के कर्म करेगा। स्वहित का विचार करनेवाला स्वार्थ में तत्पर रहेगा। विचारों का ताना-बाना ही कर्म का प्रेरक है। यदि ये विचार श्रेष्ठ होंगे, तो मनुष्य का कर्म भी श्रेष्ठ होगा। तभी तो महर्षि मनु जी लिखते हैं -

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते॥

(मनु0 4/20)

अर्थात् - जैसे-जैसे मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन करता जाता है, वैसे-वैसे उसका ज्ञान भी समस्त पदार्थों के प्रति विशिष्ट होता जाता है। परिणाम स्वरूप उसकी रुचि विवेकमय ज्ञान से युक्त हो जाती है।

उसी श्रेष्ठता को प्राप्त करने के लिए ऋषि-मुनियों ने स्वाध्याय के नियम को निर्धारित किया। इसमें आर्ष-ग्रन्थों का पढ़ना, मनन करना तथा उन श्रेष्ठताओं को आचरण में लाना आदि कार्य स्वाध्याय कहलाता है। स्वाध्याय सद्विचारों को जन्म देते हैं, सद्विचार सत्कर्म को तथा सत्कर्म के द्वारा मनुष्य आवागमन के चक्र से छूट मुक्ति को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है। इसलिये **"स्वाध्यायान्माप्रमदः"** कहकर ऋषियों ने सन्देश दिया कि - स्वाध्याय में कभी प्रमाद मत करो। इसीलिये स्वाध्याय भी धर्म का मार्ग तथा धर्म का द्वार है।

(3) दान - दान का अर्थ है - स्वअर्जित धन में से अन्य प्राणियों के लिए कुछ भाग निकालना। जो सामर्थ्यहीन हैं वस्त्र से, अन्न से, धन से, यदि

आपका थोड़ा-सा सहयोग उन्हें सामर्थ्यवान् बनाता है, तो आपका सहयोग जहां आपके पुण्य का संवर्द्धन करेगा, वहां वह सामर्थ्यहीन को सामर्थ्य प्रदान कर समाज के साथ चलने का सौभाग्य भी प्रदान करेगा। पर ध्यान रहे कि दान सुपात्र को ही दिया जाय, कुपात्र को नहीं। क्योंकि दान का वर्त्तमान समय में जिस प्रकार से दुरुपयोग हो रहा है, उसका दुष्परिणाम यह है कि अनाथ-असहाय अभाव से ग्रस्त हैं, पर स्वार्थी लोग दान के नाम पर मौज उड़ा रहे हैं। इसलिये दान करनेवाले को चाहिये कि सुपात्र को देखकर ही दान करे। ध्यान रहे दान शास्त्र में जहां धर्म का पथ कहा गया है, वहां कुपात्र को दिया दान उतनी ही मात्रा में अधर्म का पथ है। अधर्म का परिणाम दुःख है, और धर्म का परिणाम सुख है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि सुपात्रों के अभाव को दान द्वारा दूर कर धर्म के पुण्य का अर्जन करे। कहा भी है -

सङ्ग्रहैकपरः प्रायः समुद्रोऽपि रसातले।
दातारं जलदं पश्य गर्जन्तं भुवनोपरि॥

(भो0 प्र0 65)

अर्थात् - संग्रह किया हुआ धन समुद्र में पड़े रत्नों के समान नीचे तल में पड़ा रहता है, जब कि दान में दिया हुआ धन वर्षा वरसाने वाले बादल के समान संसार का कल्याण कर शान्ति-समृद्धि प्रदान करता है।

(4) तप - प्रजापति परमात्मा ने जब सृष्टि का सर्जन किया, तो उसने तप किया तथा संसार के मनुष्यों को तप करने का सन्देश दिया, ऐसा उपदेश हमारी उपनिषदों में आता है। इस आधार पर तप करना प्रत्येक मनुष्य का आवश्यक कर्त्तव्य बन जाता है। वैसे भी संसार में जिन-जिन महापुरुषों ने जीवन में उन्नति की है, पुण्यलाभ अर्जित किया है, वह बिना तप के कभी भी सम्भव नहीं था। यदि कोई विद्यार्थी अपने अध्ययन में तप न करे, कोई विद्वान् ज्ञानार्जन में तप न करे, व्यापारी धन के अर्जन में तप न करे, तो क्या वह सफलता प्राप्त कर सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर नहीं में ही आयेगा। तो फिर स्वाभाविक बात यह बनी कि धर्म का संचय करने के लिए भी तपस्वी बनने की आवश्यकता है। धर्म के कार्य में यदि विघ्न-बाधायें उपस्थित हों, तो भी उनका प्रतीकार करते हुए स्व-कर्त्तव्य पर आरूढ़ रहने का नाम धर्म है। आलसी मनुष्य कभी धर्म का न तो अर्जन कर सकता है, और न अपने को धार्मिक बना सकता है। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपने को तप से संयुक्त करे, ताकि वह जिस सफलता को अर्जित करना चाह रहा है, वह सफलता उसे प्राप्त हो सके। महाभारत में भी लिखा है -

तपो निःश्रेयसं जन्तोस्तस्य मूलं शमो दमः।
तेन सर्वानवाप्नोति यान् कामान्मनसेच्छति॥

(महा0 शा0 232/22)

अर्थात् - तप के द्वारा मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, तप के द्वारा ही मन को शान्त तथा इन्द्रियों को अपने वश में रखा जा सकता है। मनुष्य जिस-जिस कामना की इच्छा करता है, यदि उनको पूर्ण करना चाहता है, तो उसका साधन केवल तप ही है, अन्य कोई नहीं।

(5) सत्य - सत्य धर्म का वह सोपान है, जिसके बिना मनुष्य कभी ईश-प्राप्ति नहीं कर सकता। सत्य को यदि समस्त शब्दों में समझा जाये, तो जो जैसा है उसको वैसा जानना, वैसा ही मानना और वैसा ही मनवाने का नाम सत्य है। पर इस सत्य में यदि किञ्चित् भी स्वार्थ के कारण असत्य का पुट मिला दिया, तो फिर सत्य सत्य नहीं रहेगा, दूषित हो जायेगा।

महर्षि पतञ्जलि तो सत्य की महत्ता का वर्णन करते हुए लिखते हैं -

"सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्"

(योगसूत्र 2/36)

अर्थात् - सत्य की जीवन में स्थापना करनेवाले की वाणी में ऐसी अमोघ शक्ति का स्थापन हो जाता है कि वह अपनी वाणी से इष्ट या अनिष्ट की यदि कोई बात कह देगा, तो वह बात पूर्ण हो जाती है।

श्रीमद्भगवत्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण जी ने सत्य की स्थापना करते हुए दैवी-सम्पत्ति में सत्य की चर्चा इस प्रकार की है-

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥

(गी0 16/2)

अर्थात् - मन-वाणी और शरीर से किसी को कष्ट न देना, अन्तःकरण और इन्द्रियों में जैसा ज्ञान है, उसको वैसा का वैसा ही प्रकट करना, क्रोध-अभिमान का त्याग करना, शान्त रहते हुए किसी की चुगली आदि दोषों को ग्रहण न करना, आसक्ति रहित होकर समस्त प्राणियों के प्रति दया का भाव रखना, सरल बनना तथा शास्त्रविरुद्ध कार्यों में लज्जा का अनुभव करते हुए व्यर्थ की चेष्टाओं से पृथक् रहना दैवी सम्पत्ति कहलाती है।

वेद में तो सत्य को साक्षात् ब्रह्म की संज्ञा देते हुए यहां तक कहा गया है कि - व्रतों को धारण करनेवाला मनुष्य जब दीक्षित अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तो फिर वह मात्र ऐश्वर्यवान् ही नहीं बनता, बल्कि वह व्रत के प्रति श्रद्धा की अमोघ शक्ति से सत्यरूपी ब्रह्म को पा लेता है। इसी कारण से मुण्डकोपनिषद् में सत्य की प्रशंसा करते हुए यहां तक कहा है कि -

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः॥

(मुण्ड0 9/5)

अर्थात् - सत्य से, तप से, सम्यक् ज्ञान से और ब्रह्मचर्य से जिनके शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा के मल नष्ट हो गये हैं, वे ही दिव्य ज्योति स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार करते हैं।

राजा हरिश्चन्द्र ने सत्य का पालन कर स्व-धर्म का निर्वहण किया, आज तक उनके नाम का जब भी स्मरण किया जाता है, तो कहा जाता है - **सत्यवादी हरिश्चन्द्र।**

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने भी सत्य की रक्षा के लिए ही आर्यसमाज की स्थापना की और उसके दस नियमों में अनकों स्थानों पर सत्य शब्द का प्रयोग किया, वहां सत्य के अर्थ का सम्यक् प्रकाश करने की भावना से **"सत्यार्थ प्रकाश"** जैसे दिव्य अमर-ग्रन्थ की रचना की,

और उस ग्रन्थ की भूमिका तथा चार अनुभूमिका लिखते हुए यही कहा –

"मेरा नवीन मत चलाना या अन्य मत-मतान्तर वालों को दुःख देने का किञ्चित् भी प्रयोजन नहीं है। जो-जो सत्य है, उसको सत्य तथा जो-जो असत्य है, उसको असत्य के रूप में याथातथ्य संसार के लोगों के समक्ष रखना ही मेरा प्रयोजन है, जिससे लोग सत्य को ग्रहण कर असत्य का परित्याग कर दें।"

याद रखो, बिना सत्य के आत्मा समुन्नत नहीं हो सकता, और बिना सत्य के ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिये मनुष्य को चाहिये कि वह सदैव सत्य का ही पालन करे। इसलिये कहा है –

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
स्थिर्हिसत्यंधर्मस्य तस्मात्सत्यं न लोपयेत्॥

(महा. शा0 162/24)

अर्थात् – संसार में सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं, और असत्य से बढ़कर कोई पाप नहीं। यह बात हर मनुष्य को समझ लेनी चाहिये कि जब सत्य ही धर्म का आधार है, तो फिर उसे सत्य का कभी लोप न करना चाहिये।

(6) क्षमा – "क्षमा वीरस्य भूषणम्" कहकर क्षमा को वीरों का आभूषण कहा है। वीर वह नहीं, जो युद्ध में शत्रुओं को पराजित करता हो ? एक अर्थ में आप इस अर्थ को भी ले लें, तो अनुचित नहीं होगा। पर सच्चा वीर तो वह है, जो बाहर के शत्रुओं को जीतने से पहले अन्दर के शत्रुओं को जीत लेता है। तभी तो कहा है –

माना तूने सिंह पछाड़े, मस्त गजों के दन्त उखाड़े।
अरे क्या हुआ शत्रु दुर्ग पर, तूने जय के झंडे गाड़े।
जीत न पाया जब तू अपने, भीतर घुसे शत्रुगण पांच।

सच्चा वीर जो बनता है, वह यदि विनम्रता और क्षमा के गुण से युक्त न हो, तो वीर कहलाने को अधिकारी नहीं। क्योंकि विजय अभिमान को उत्पन्न करती है, पर क्षमा विनम्रता का संवर्द्धन करती है। तभी तो कहा है –

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः॥

(महा0 उ0 33/50)

अर्थात् – संसार में क्षमा ही ऐसी अमोघ शक्ति है, जो सबको वश में कर सकती है। क्षमा से क्या सिद्ध नहीं होता ? क्षमा रूपी तलवार जिस मनुष्य के हाथ में है, उसका दुष्ट मनुष्य क्या कर सकता है ? अर्थात् कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

रावण युद्धस्थल में भगवान् श्रीराम द्वारा मारा गया, पर जब युद्धस्थल में मन्दोदरी अपने पति रावण का शव लेने आई, तो भगवान् श्रीराम और उनके लघु भ्राता लक्ष्मण की आंखों में विनम्रता पूरी तरह झलक रहीं थी और वे मन्दोदरी के समक्ष नीची आंख करके खड़े रहे। यदि चाहते तो जैसे रावण को मार दिया, वैसे प्रतिशोध की भावना से उसकी पत्नी को भी मार सकते थे, पर चूंकि वे मर्यादा पुरुषोत्तम थे, महर्षि बाल्मीकि के अनुसार भगवान् श्रीराम **"धर्मज्ञः सत्यसंधश्च"** धर्म और सत्य का अनुपालन करनेवाले थे, इसलिये उन्होंने क्षमा करते हुए विनम्रता का परिचय दिया।

महर्षि दयानन्द जी ने अपने ज़हर देने वाले को क्षमा किया। यहां तक कि भोजन में विष देनेवाले जगन्नाथ को रुपये देकर नेपाल राज्य में भेजकर उसके प्राणों की रक्षा की। महापुरुष छोटी-छोटी बातों पर प्रतिशोध की भावना मन में आने ही नहीं देते। वे क्षमा के द्वारा भगवान् की न्याय-व्यवस्था में उस अपराध को छोड़कर स्वयं धर्म के मार्ग पर बढ़ते रहते हैं। इसीलिये क्षमा को धर्म का पथ अथवा धर्म का द्वार कहा है, जिससे मनुष्य अपने पथ में आनेवाली बाधाओं में न उलझ अपनी शक्ति का उपयोग लक्ष्य प्राप्ति में लगाता है, और एक दिन वह लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

(7) दया - दया हृदय की विशालता का वर्धन करती है, मनुष्य को महान् बनाती है। दया से आत्मा का उत्थान करने का अवसर प्राप्त होता है और मनुष्य दया के द्वारा पुण्यों को अर्जित करने में सक्षम होता है। कल्पना कीजिये कि जब हमारे हृदय में दया की लहरें उत्पन्न होती हैं, तभी हम दूसरों की सहायता के लिए उद्यत होते हैं। सहायता से जहां उस ग़रीब मनुष्य का कल्याण होता है, वहां आपका आत्मा आनन्द-हर्ष आदि गुणों से युक्त होता है। यदि कोई व्यक्ति अपने अन्दर से दया-करुणा के सागर को सुखा दे, तो उसके अन्दर ममत्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता, और वह व्यक्ति स्वार्थी बनकर अपनी आत्मा को कभी समुन्नत नहीं कर सकेगा। आत्मा समुन्नत करने के लिये करुणा व दया का भाव उत्पन्न होना अत्यावश्यक है। दयावान् मनुष्य जब दूसरों के कल्याण के लिए अपनी शक्ति व धन का उपयोग करता है, तो मानो वह धर्म का अर्जन करता हुआ अपने को धार्मिक बनाने का प्रयत्न करता है। तभी तो कहा है -

दया धर्मस्य मूलं हि द्रोहः पापस्य कारणम्।
तावद्दया न त्यक्तव्या यावत्प्राणाः शरीरके॥

(हितो0 मि0 12)

अर्थात् - धर्म का मूल दया ही है और पाप का मूल ईर्ष्या-द्रोह करना। इसलिये जब तक मनुष्य के शरीर में प्राण हैं, तब तक मनुष्य को दया नहीं छोड़नी चाहिये।

शायद इसी भाव को जगत्प्रसिद्ध गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने शब्दों में इस प्रकार कहा है -

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छोड़िये, जब लगि घट में प्रान॥

इसलिये धर्म का संचय कर धार्मिक बनने का तरीका यही है कि मनुष्य के हृदय में दया की लहरें उठें, और वह उन लहरों को शान्त करने के लिए धर्म का कार्य करें।

(8) निर्लोभी बनना - आपने संस्कृत साहित्य की सूक्ति पढ़ी होगी- **"लोभो पापस्य कारणम्"** पाप का कारण लोभ है। लोभ पाप की जननी है, निर्लोभी होना पाप से दूर होकर पुण्य अर्जित करना है। लोभी मनुष्य स्वार्थी होता है। वह दूसरे के प्रति कल्याण की भावना नहीं रखता। वह दूसरों को सुखी नहीं देखना चाहता। उसके मन में सुखी मनुष्य को देखकर बार-बार यह विचार आता है कि जिस ऐश्वर्य के कारण यह सुखी है, यह ऐश्वर्य उसके पास नहीं होना चाहिये, यह तो बस मेरे पास ही होना चाहिये।

यह दुर्विचार जब उसका दृढ़ हो जाता है, तो वह येन-केन-प्रकारेण उसकी हानि तथा अपने लाभ की योजनायें बनाने लगता है, जिसके परिणाम स्वरूप उसे जो कार्य कभी नहीं करना चाहिये, वह दुष्ट-कार्य भी करने को उद्यत हो जाता है। परिणाम वह दुष्ट कर्म करते-करते दुष्ट कर्म करने का अभ्यासी बन जाता है। बस, यही दुष्टकर्म का अभ्यास उसे पाप कर्म करने को प्रेरित करता है, जिससे वह अधर्म के मार्ग पर चलकर अनकों प्रकार के पापकर्म करके पापी बनता चला जाता है।

महाराज युधिष्ठिर ने राजूसय यज्ञ किया। उस यज्ञ में देश-देशान्तरों से सम्मिलित होने वाले राजाओं द्वारा दिये जानेवाले उपहारों को इकट्ठा करने की जिम्मेदारी दुर्योधन को सौंपी। उन उपहारों को देखकर दुर्योधन का लोभ जाग गया, और वह यह सोचने लगा कि जो उपहार आज युधिष्ठिर को प्राप्त हो रहे हैं, ये तो मुझे मिलने चाहिये। इस लोभ की आग में जल को स्थल समझकर भूल से गिरने पर भीम तथा द्रौपदी द्वारा किये जाने वाले उपहास ने उसको इतना भड़का दिया कि वह किसी भी प्रकार से युधिष्ठिर से राज्य छीनने की योजनायें अपने मामा शकुनि के साथ बनाने लगा, और वह इस काम में सफल भी हुआ। दुर्योधन ने केवल पाण्डवों का राज्य ही प्राप्त नहीं किया, बल्कि उन्हें समाप्त करने की अनेकों योजनायें बनाईं। पर जब वे उन योजनाओं में सफल न हुआ तो उसने जुए में युधिष्ठिर को हराकर बारह वर्ष का वनवास और तेरहवें वर्ष का अज्ञातवास दिलवा दिया। इसके बाद भी जब वह राज्य देने को तैयार न हुआ तो फिर महाभारत का युद्ध हुआ, दोनों ओर से 18 अक्षौहिणी सेना मारी गई, और जब युद्ध समाप्त हुआ तो मात्र दश महारथी ही दोनों पक्षों में से बचे। यह सब पापी दुर्योधन के राज्य-लोभ का ही दुष्परिणाम था।

इसलिये यदि किसी मनुष्य की इच्छा है कि न तो वह पापी बने और न पापी कहलाये, तो उसे चाहिये कि वह लोभ जैसे दोष को छोड़ने का प्रयत्न करे। जैसे-जैसे उसका जीवन निर्लोभी बनता जायेगा, वैसे-वैसे उसकी आत्मा सन्तोषरूपी धन से भरता चला जायेगा। सन्तोषी मनुष्य अपने कमाये हुए धन पर बादशाह की तरह गर्व करता है, जबकि असन्तोषी मनुष्य पाप कर्म करता हुआ लोभ की अग्नि से अपने जीवन को तपाता हुआ दूसरों का अकल्याण ही नहीं करता, वरन् वह अपनी आत्मा को भी विनष्ट कर देता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि सदैव निर्लोभी रहकर जीने का अभ्यास करे, जिससे कि उसकी आत्मा सन्तुष्टि के धन से आनन्द युक्त बन सके।

उपर्युक्त आठ धर्म के पथ का अथवा धर्म के द्वारों का यदि कोई मनुष्य अक्षरशः पालन करेगा, तो वह केवल इस जन्म को ही धर्ममय नहीं बनायेगा, बल्कि उसका पारलौकिक जीवन भी धर्ममय बनेगा। इसलिये आओ हम संकल्प करें कि हम सदैव धर्म के मार्ग पर चलकर जीवन की प्रतिष्ठा को प्राप्त करें। तभी तो कहा गया है -

"धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा"॥ ❑

* शिक्षादान ही महादान *

यदि आप चाहते हैं कि हमारे देश का प्रत्येक बालक साक्षर बने, तो हमारे द्वारा चलाने वाले 'साक्षारता-अभियान' में आप हमारा सहयोग अवश्य करें। आज शिक्षा का उद्योगीकरण हो गया है। जो व्यक्ति समर्थ हैं, वे अपने बच्चों को उच्च से उच्च शिक्षा दिलवाने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखते। पर हमारे देश में ऐसे भी अनेकों लोग हैं, जो धनाभाव के कारण अपने बच्चों को न तो शिक्षा दिलवा पाते हैं और न किसी प्रकार के अच्छा संस्कार। उनके बच्चे बाल-मजदूरी की चक्की में पिसने को मजबूर हैं।

हमारा विश्वास है कि यदि आप हमें अपनी कमाई में से कुछ भाग सहयोग-राशि के रूप में हमारे पास भेजने का प्रयत्न करें, तो हम कुछ बच्चों को अवश्य ही शिक्षित करने का प्रयास कर सकते हैं। जो बच्चे धनाभाव के कारण पढ़ नहीं पाते, उनके लिए यदि आपका आर्थिक सहयोग वार्षिक आहुति के रूप में मिलता रहे, तो हम अपनी योजना **"बाल चरित्र निर्माण योजना"** के अन्तर्गत उन्हें श्रेष्ठ गुरुकुलीय-शिक्षा दिलवाने का प्रयत्न अवश्य ही कर सकते हैं। इस कार्य में एक बच्चे की शिक्षा पर पुस्तक-कॉपी-वस्त्र के अतिरिक्त कम से कम **12,000 (बारह हजार)** रुपये का वार्षिक व्यय होता है।

आप यदि हमारे साथ इस ज्ञान-यज्ञ में अपनी भागीदारी निभाना चाहते हैं, तो आप **12,000 रुपये की धनराशि नकद या चैक/ड्राफ्ट** के रूप में **"बाल चरित्र निर्माण योजना"** के नाम से भेज सकते हैं।

इसके अतिरिक्त जो बच्चे एम.सी.डी के स्कूलों में अथवा प्राईवेट स्कूलों में पढ़ते हैं, यदि आप उनकी पढ़ाई के निमित्त कोई निश्चित मासिक अथवा वार्षिक राशि सहयोग के रूप में देना चाहते हैं, तो उस धनराशि को भी आप हमारी संस्था के पते पर भेज सकते हैं।

- निवेदक -

आचार्य श्याम देव

अधिष्ठाता - बाल चरित्र निर्माण योजना

डब्ल्यू. जैड. - 869, नारायणा, नई दिल्ली-28

दूरभाष - 09811064932, 09350233885, 09350733444

हमारा उद्देश्य

(1) भारतीय योग-पद्धति का प्रचार-प्रसार कर, स्वास्थ्य संवर्द्धन हेतु समय-समय पर योग शिविरों का समायोजन कर, स्वास्थ्य के प्रति जन-मानस को जागरुक करने का अभियान चलाना।

(2) हमारे सभी शास्त्र संस्कृत-भाषा में हैं। वर्त्तमान शिक्षा-पद्धति में संस्कृत जैसी समृद्ध भाषा को कोई स्थान नहीं है, जबकि यह भाषा सभी भाषाओं की जननी तथा विश्व की प्राचीनतम भाषा है। अतः इस भाषा के अध्ययन के प्रति रुचि उत्पन्न करना तथा अध्ययन की व्यवस्था करना।

(3) सभी वर्ग के बालक-बालिकाओं के लिए "संस्कृत-संस्कृति रक्षा शिविर" का आयोजन कर, भारतीय संस्कृति के रूप में परिचय करना; जिससे सभी जन बड़े गौरव के साथ सबके सामने कह सकें - "सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववाराः" यही संस्कृति प्राचीन व श्रेष्ठतम है, जो मनुष्य का सर्वांगीण विकास करने में सक्षम है।

(4) जो बालक-बालिकायें आर्थिक परिस्थितियों के कारण शिक्षा से वञ्चित रह जाते हैं, उन्हें आर्थिक सहयोग करना, ताकि वे शिक्षा को प्राप्त कर, देश के श्रेष्ठ नागरिक बन सकें।

(5) अत्यन्त ग़रीब, विकलांग बालक-बालिकाओं एवं वृद्धजनों के उत्थान एवं स्वास्थ्य के लिए उन्हें आर्थिक सहयोग करना।

(6) वेद, धर्म व यज्ञादि के माध्यम से प्राकृतिक व सामाजिक पर्यावरण को प्रदूषण मुक्त करना।

(7) धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन कर उन्हें जनमानस तक पहुंचाने का प्रयास करना; जिससे कि सभी मनुष्य सत्साहित्य से अपने विचारों को श्रेष्ठ बनाकर, मानवीयता के सद्गुणों को ग्रहण करने में सक्षम हो सकें।

- कार्यालय -

धर्म संवर्द्धिनी सभा (पंजीकृत)

ए-1/148 बी, मधुविहार, द्वारका, नई दिल्ली-59

दूरभाष - 09811064932, 09350233885, 09350733444

E-mail -Samvardhini@yahoo.co.in

Website - www.dharmsamvardhini.com